

ISSN 0972-1002

श्रमण SRMANA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXII

No.III

July-Sept. 2011



Consequences of Worldly Attachment



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXII

No. III

July-September 2011

EDITOR

Prof. Sudarshan Lal Jain

JOINT EDITOR

Dr. Ashok Kumar Singh



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Established: 1937)

*(Recognized by Banaras Hindu University
as an External Research Centre)*

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain

Chairman, New Delhi

Prof. Cromwell Crawford

Univ. of Hawaii

Prof. Anne Valley

Univ. of Ottawa, Canada

Prof. Peter Flugel

SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple

Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh

Bheekhampur, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

Prof. K.C. Sogani

Chittaranjan Marg, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava

Bani Park, Jaipur

Prof. Prakash C. Jain

JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari

B.H.U., Varanasi

Prof. K. K. Jain

B.H.U., Varanasi

Prof. Viney Jain

Gurgaon

Prof. Gary L. Francione

USA

Dr. A.P. Singh, Ballia

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership

Life Membership

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50 For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 15 For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 100

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 5

Membership fee and articles can be sent in favour of

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar for Parshwanath Vidyapeeth

I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890

Email:

pvpvaranasi@gmail.com, sudarshan.pvvaranasi.jain@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Theme of Cover : Consequences of Worldly Attachment

Type Setting : Raj Graphics, Lanka, Varanasi

Printed by : Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

CONTENT

सम्पादकीय	IV-V
Parshwanath Vidyapeeth : At a Glance	VI-VII
Our Contributors	VIII
1. भारतीय चिन्तन में आत्म-तत्त्व : एक समीक्षा प्रो० सुदर्शन लाल जैन	१-१२
2. अङ्ग आगम में प्रयुक्त देश्य शब्द : हिन्दी शब्दों के प्राचीनतम स्रोत के रूप में डॉ० अशोक कुमार सिंह	१३-२४
3. आगमों में प्रतिपादित षड्जीव-अहिंसा विषयक अवधारणा डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव	२५-३४
4. अनेकान्तवादप्रवेश प्रतिपादित नित्यत्वानित्यत्ववाद डॉ० राहुल कुमार सिंह	३५-४८
5. अङ्ग साहित्य में वर्णित पारिवारिक व्यवस्था का स्वरूप सुश्री श्वेता सिंह	४९-५८
6. जैन दर्शन में इच्छा-स्वातन्त्र्य की समस्या डॉ० रूबी जैन	५९-६८
7. Lord Mahavira's Birthplace : The Need For Denovo Study Gp. Capt. V.K. Jain	६९-७४
8. Contribution of Śramaṇas to the Indian Tradition of Exegetical Literature Dr. Rajesh Ranjan	७५-८८
स्थायी स्तम्भ	
जिज्ञासा और समाधान	८९-९४
पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	९५-१०२
जैन जगत्	१०३-१०४
साहित्य-सत्कार	१०५-१०६
साभार प्राप्ति	१०७-१०८
विद्यापीठ के आगामी प्रकाशन	१०९-११०

सम्पादकीय

भ्रष्टाचार-निवारण : अपरिग्रह, अहिंसा सिद्धान्त की उपादेयता

मुख पृष्ठ पर दिया गया चित्र एक प्रतीकात्मक चित्र है जो संसार-दर्शन से सम्बन्धित है जिसमें मधु-बिन्दु के दृष्टान्त से सांसारिक प्राणियों की दशा का चित्रण किया गया है। इस चित्र में एक मनुष्य एक वृक्ष की दो शाखाओं के सहारे लटका हुआ है और मधुमक्खियों के छत्ते से टपकती हुई शहद की बूँदों के मीठे रस को चखने में आनन्द-मग्न है। यह मनुष्य संसार के सभी जीवों का प्रतिनिधि है। उसे अपने चारों ओर विद्यमान मौत के ताण्डव का जरा भी ध्यान नहीं है।

इस चित्र में हाथी यमराज का प्रतीक है जो पेड़ को जड़ से उखाड़ रहा है। काले और सफेद चूहे रात और दिन या कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के प्रतीक हैं जो आयु रूपी पेड़ की डाल को काट रहे हैं जिसके सहारे आदमी लटका हुआ है। नीचे एक कुआँ है जिसमें मुँह खोले हुए चार सर्प उस व्यक्ति को डँसने के लिए तत्पर दिखलाई दे रहे हैं। ये चारों सर्प नरकादि चार गतियों के प्रतीक हैं। कहीं-कहीं कुएँ में पाँच सर्प भी दिखलाये गए हैं जो संसार-बन्धन (कर्म-बन्धन) के प्रमुख पाँच कारणों के प्रतीक हैं। ये पाँच कारण हैं— मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके कारण ही मनुष्य को कर्म-बन्धन में बँधना पड़ता है। कुआँ स्वयं मौत का कुण्ड है। जो दो शाखाएँ व्यक्ति पकड़े हुए है वे शाखाएँ नहीं अपितु राग-द्वेष रूपी अजगर हैं। चारों ओर का परिवेश जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग आदि से परिपूर्ण संसार रूपी जंगल है। विमान में दृश्यमान देव-युगल हितोपदेशी गुरुतुल्य है जो उसे इस संसार की मुसीबतों से छुटकारा दिलाने के लिए अपने पास बुला रहा है परन्तु क्षणिक इन्द्रिय-विषय सुख रूपी मधु-रस के पान के लोभवश वह उसके हितोपदेश को अनसुना कर रहा है।

यही स्थिति संसार के प्राणियों की है जो आज कुछ अधिक विकराल रूप लेकर दिखलायी दे रही है। चारों ओर क्षणिक सांसारिक सुखों की आकांक्षा से प्रेरित होकर व्यक्ति नाना प्रकार के अपराध कर भ्रष्टाचारी हो रहा है। घूसखोरी, चोरी, डकैती, छीना-झपटी, बलात्कार, नक्सली हिंसा, भ्रष्टाचार आदि अनेक मुद्दे इस देश में पनप रहे हैं जो कभी राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गाँधी आदि की जन्मभूमि रहा है। ऐसी स्थिति में अन्ना हजारे जैसे अहिंसावादी देशभक्त ने पूरे देश को अपने अहिंसक आन्दोलन तथा अनशन के द्वारा हिला दिया है। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार

को समाप्त करने का संकल्प लेकर अन्ना हजारे ने संसद में जन-लोकपाल बिल पास कराने का जो अन्दोलन छेड़ा है वह स्वागत के योग्य है। यहाँ ध्यान देने की एक बात यह भी है कि अन्ना हजारे ने माँगें मान ली जाने तथा विशाल जनसमुदाय के उपस्थित रहने पर भी अपने अनशन को रात्रि के समय न तोड़ते हुए दिन में तोड़ा जो उनकी जैनवृत्ति में आस्था को प्रकट करती है। यदि अन्ना हजारे जैन-सिद्धान्तों (अनेकान्तवाद, अपरिग्रहवाद, स्याद्वाद, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य) के साथ चलेंगे तो निश्चय ही इस देश से क्या समस्त संसार से भ्रष्टाचार को समाप्त कर सकेंगे। आज आवश्यकता उन जैन सिद्धान्तों को प्रयोग में लाने की है। उनको कैसे प्रयोग में लाया जाए? इस पर मंथन आवश्यक है।

यह सत्य है कि पूर्ण अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का पालन न तो सम्भव है और न एक गृहस्थ के लिए आवश्यक क्योंकि उसे कई आरम्भिक, औद्योगिक आदि क्रियायें करनी पड़ती हैं। अतः उसे अणुव्रती होकर सीमित-परिग्रही तथा स्वपत्नी संतोषव्रती होना चाहिए। मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए पञ्चेन्द्रियों की न तो हत्या करनी चाहिए और न उन्हें सताना चाहिए। चोरी करके तथा असत्य बोलकर किसी को न तो कष्ट देना चाहिए और न उन्हें सताना चाहिए। इस आध्यात्मिक मधु-बिन्दु दृष्टान्त को वर्तमान परिवेश में सोचेंगे तो पता चलेगा कि गलत कार्यों के करने पर हमें राजकीय और सामाजिक दण्ड भोगने होंगे। यह मध्य-बिन्दु दृष्टान्त यदि जनसमुदाय को समझ में आ जाएगा और वह यदि विमानस्थ देव के अपरिग्रह, अहिंसा आदि वचनों का अनुसरण करेगा तो निश्चय ही भ्रष्टाचार-समाप्ति के साथ सुख-शान्ति का साम्राज्य व्याप्त हो जाएगा।

इस अङ्क की विशेषता है कि अधिकतर लेख पार्श्वनाथ विद्यापीठ में कार्यरत विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। इसके गुण-दोष की परीक्षा आप सुधी पाठकों द्वारा प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है।

आगामी दशहरा और दीपावली के पावन त्योहारों पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से आप सभी को हार्दिक शुभकामनाएँ।

प्रो० सुदर्शन लाल जैन

Parshwanath Vidyapeeth : At a Glance

- 1935 Formed Shri Sohanlal Jain Dharma Pracharak Samiti, Amritsar.
- 1937 Established as an Institute of Indology in general and Jainology in particular in the memory of Punjab Keshari Sthanakwasi Jainacharya Pujya Sohanlal Ji Maharaj.
Formerly known as P.V. Research Institute, after few changes in its name finally named as Parshwanath Vidyapeeth.
- 1938 Established Shatawadhani Ratanchand Library.
- 1942 Established Jagannath Jain Hostel.
- 1944 Started Research activities.
- 1949 Introduced *Śramaṇa*, a Bi-lingual monthly Research Journal of Jainology.
- 1950 Registered Parshwanath Vidyapeeth under Society Registration Act 1860.
- 1968 The main building inaugurated.
- 1973 Recognized as an External Research Center by BHU.
- 1988 Parshwanath Vidyapeeth celebrated its Golden Jubilee.
- 1989 Established Rukmini Devi Deep Chand Gardi Jain Vidya Uchcha Adhyayan Kendra
- 1990 Monthly Journal *Śramaṇa* made Bilingual Quarterly Research Journal.
- 1996 According to UGC recommendation PG course in four subjects conducted (1996-1997)
- 1997 (i) Undertook a Project on Encyclopedia of Jaina Studies
(ii) Established Parshwanath Vidyapeeth Museum with donation from Shri Satyendra Mohan Jain.
- 1998 Parshwanath Vidyapeeth celebrated its Diamond Jubilee.
- 2005 Prof. Cromwell Crawford visited the Institute to explore the possibility of running ISSJS courses.
- 2006 (i) Started at the campus Summer School by ISSJS.
(ii) Established Global Centre for Ahimsā and Indological Research (A joint venture of ISJS & PV)
(iii) Formed a committee for the financial support of PV named **Akhil Bhartiya Shravak Samiti** with the blessings of **Rev. Acharya Dr. Shivmuniji Maharaj**.
(iv) Formed New Management Committee headed by Dr. Shugan C. Jain.
- 2008 Started Lala Harjas Rai Jain Lecture Series.

- 2011 (i) Published and Released Encyclopaedia of Jaina Studies Vol. I (Art & Architecture).
(ii) Established a new branch of Parshwanath Vidyapeeth at Ramavihar, New Delhi.
(iii) *Śramaṇa* made online on our Website.
(www.parshwanathvidyapeeth.org)
(iv) Upgradation of Parshwanath Vidyapeeth Website

2012 Proposed Celebration of Platinum Jubilee of P.V.

Founder : Shri Lala Ratnachand Harjasrai Jain

Patrons : Shri Sohan Lalji Duggar, Shri Deepchand Gardi, Shri Neminath Jain, Shri Prakash Chand Jain.

Source of Inspiration: Pt. Sukhlal Sanghvi, Pt. Bechardas Doshi, Padmabhusan Pt. Dalsukh Malvania and Prof. Sagarmal Jain.

Chairman: Shri Ramesh Chand Barar (2010---)

Presidents : Shri Tribhuvan Nath Jain (1935-70), Shri Jangi Lal Jain (1971-76), Shri Shadilal Jain (1977-81), Shri Aridaman Jain (1982-86), Shri Deep Chand Gardi (1987-89), Shri Vijay Kr. Jain (1989-91), Shri Neminath Jain (1991-93, 95-96), Shri Sumati Prakash Jain (1993-99), Shri Nrip Raj Jain (1996-2001), Shri Suresh Dada Jain (2002), Shri Hira Lal Jain (2002-07), Shri Bhupendra Nath Jain (2007-09), Shri Ramesh Chand Barar (2009), Dr. Shugan C. Jain (2010---).

Secretaries : Lala Shri Harajas Rai Jain (1935-74), Shri B. N. Jain (1975-2000), Dr. Sagarmal Jain (2001-09), Shri I. B. Barar (2009--).

Jt. Secretaries : Shri Indrabhooti Barar (1995-2009), Shri Mohanlal Khariwal (2000), Shri Ram Kumar Jain (2002-09), Shri Ram Sharan Gupta (2009---).

Co-ordinators : Shri Shantibhai V. Shah (1944-49), Muni Krishnachandra (1949-64), Shri Ratan Chand Jain.

Directors : Prof. Mohan Lal Mehta (1964-77), Prof. Sagarmal Jain (1979-97), Prof. Bhag Chand Jain (1999-2000), Prof. Maheshwari Prasad (2002-06), Prof. Sudarshan Lal Jain (2010 ---).

Ph. D. awarded (63) : Dr. Nathmal Tatia, Dr. Indrachandra Shastri, Dr. Gulabchand Chaudhari, Dr. Mohanlal Mehta, Dr. Gokul Chand Jain, Dr. Komal Chand Jain, Dr. Sudarshan Lal Jain, Dr. B. N.Sinha etc.

Our Contributors

Prof. Sudarshan Lal Jain

Director (Research), Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

Dr. Ashok Kumar Singh

Associate Professor, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

Dr. Navin Kumar Srivastav

Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

Dr. Rahul Kumar Singh

Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

Miss Shweta Singh

Research Scholar, Department of History,
Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi

Dr. Rubi Jain

Faculty, Dr. A.V. College, Hoshiyarpur, Punjab

Gp. Capt. V. K. Jain

572, Asiad Village, New Delhi- 110049

Dr. Rajesh Ranjan

Faculty in Buddhism, Guru Govind Singh Department of
Religious Studies, Punjabi University, Patiala- 147002

भारतीय चिन्तन में आत्म-तत्त्व : एक समीक्षा

प्रो० सुदर्शन लाल जैन

इस आलेख में सभी भारतीय दर्शनों तथा तन्त्र सिद्धान्तों में आत्मा के स्वरूप के विषय में गम्भीर एवं समीक्षात्मक चिन्तन किया गया है। इस चिन्तन के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा की नित्यता, अनित्यता, अणुरूपता, व्यापकता, शरीर-परिमाणता, सूक्ष्मता आदि का समन्वय अनेकान्त-दृष्टि से किया जा सकता है क्योंकि बिना अनेकान्त-दृष्टि अपनाये कोई भी दर्शन अपने मत की पुष्टि नहीं कर सकता। इतना अवश्य है कि आत्मा चेतन है, ज्ञानरूप है तथा शरीर-इन्द्रियादि से भिन्न है। — सम्पादक

भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व (चेतन तत्त्व) के सम्बन्ध में बहुत गम्भीरता से चिन्तन हुआ है। आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न, एक है या अनेक, अणुरूप है या व्यापक या शरीर-परिमाण, नित्य है या अनित्य, ज्ञान उसका अपना स्वभाव है या आगन्तुक धर्म? इत्यादि प्रश्नों का समाधान विभिन्न धर्मों में विभिन्न प्रकार से मिलता है—

१. अनात्मवादी चार्वाक दर्शन

शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से चेतन तत्त्व को पृथक् स्वीकार नहीं करने वाले चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु' इन भूतचतुष्टयों से निर्मित शरीर, मन, इन्द्रियादि से भिन्न कोई पृथक् चेतन तत्त्व नहीं है। शरीर के उत्पन्न होने पर चेतनता उत्पन्न होती है और उसके नष्ट होने पर समाप्त हो जाती है। 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृष हूँ' इत्यादि अनुभूतियाँ इसमें प्रमाण हैं तथा 'मेरा शरीर' 'मेरी इन्द्रियाँ' इत्यादि अनुभूतियाँ काल्पनिक हैं। इसीलिए यह दर्शन देहात्मवादी, भौतिकवादी कहलाता है^१। इस दर्शन के प्रणेता बृहस्पति हैं, इसीलिए इसे 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी कहा जाता है। इसका प्राचीन नाम 'लोकायत' (लोक में आयत या व्याप्त) है तथा मीठी बातें करने वाला, स्वर्ग-नरक आदि का चर्चण करने वाला होने से चार्वाक (चारु+वाक्) प्रसिद्ध है। आत्मा को न मानने से यह पुनर्जन्म, मोक्ष, ईश्वर आदि में विश्वास नहीं करता है। इसका एक मात्र सिद्धान्त है

‘यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः’ ॥

अनुमान के द्वारा (अन्वय-व्यतिरेकी) भी वे अपनी बात को सिद्ध करते हैं 'शरीर

२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

के रहने पर ही चैतन्य का आविर्भाव होता है और शरीर के न रहने पर चैतन्य का भी अभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्न-पान के सेवन से शरीर में प्रकृष्ट चैतन्य का अभ्युदय होता है और अन्न-पान के ग्रहण न करने पर चेतनता का हास होता है। जैसे- जौ, चावल आदि में मादकता नहीं है फिर भी जब उससे मदिरा बनायी जाती है तो उसमें मादकता पैदा हो जाती है उसी प्रकार भूत-चतुष्टय के सम्मिश्रण से चेतनता का आविर्भाव हो जाता है^२।

२. अनात्मवादी बौद्ध दर्शन

इसके उपदेष्टा गौतम बुद्ध हैं। उन्होंने मनुष्यों में 'पशु-यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति' आदि दुष्प्रवृत्तियों का कारण नित्य आत्मा को जानकर नैरात्म्यवाद (संघातवाद, सन्तानवाद) की प्रतिष्ठापना की। उन्होंने कहा आत्मा पञ्च-स्कन्धों (नाम, रूप, वेदना, विज्ञान और संस्कार) का संघातमात्र है^३। इनकी मान्यता है कि पुण्य-पाप कर्मों का फल जरूर मिलता है परन्तु वह फल उसी सन्तान परम्परा के नये व्यक्ति को मिलता है, उसे नहीं। ये निर्वाण भी स्वीकार करते हैं परन्तु निर्वाण होने पर न सुख होता है, न दुःख, केवल दीपक की लौ बुझने के समान पञ्चस्कन्धात्मक आत्म-सन्तान परम्परा का अन्त हो जाता है। ये विभिन्न मानसिक अनुभवों और प्रवृत्तियों को स्वीकार करके भी आत्मा को नहीं मानते क्योंकि आत्मा मानस प्रवृत्तियों का अथवा विज्ञान का पिण्ड-मात्र है। यह दर्शन चार सम्प्रदायों में विभक्त है— वैभाषिक (बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी), सौत्रान्तिक (बाह्यार्थ अनुमेयवादी), योगाचार (विज्ञानवादी) और माध्यमिक (शून्यवादी)। चारों ही ये दार्शनिक सम्प्रदाय क्षणिकवादी और अनात्मवादी हैं। माध्यमिक तो बाह्य जगत् और आभ्यन्तर जगत् दोनों को शून्य अथवा मायारूप मानते हैं। इनकी केवल व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक नहीं। केवल वर्तमान काल में इनका विश्वास है। इस तरह यह दर्शन अनात्मवादी होकर भी पाप-पुण्य, कर्म, परलोक, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि में विश्वास करता है परन्तु क्षणिकवादी होने से ये आत्मा को पञ्चस्कन्ध का संघात कहते हैं। ध्यान देने की बात है कि इनके पञ्चस्कन्ध में वेदना, विज्ञान और संस्कार जैसे तत्त्वों को भी स्वीकार किया गया है। इन्होंने नित्य आत्मा न मानकर सन्तान-परम्परा को स्वीकार करके दुःख-निवृत्ति और मोक्ष की व्याख्या की है। यहाँ ध्यातव्य है कि कोई नित्य आत्मा न मानने पर स्मृति-लोप, कृतकर्म-हानि, अकृत-कर्म-भोग, संसार से मुक्ति का भङ्ग आदि दोष उपस्थित होते हैं^४।

३. न्याय-वैशेषिक

न्याय दर्शन के प्रवर्तक हैं न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम और वैशेषिक दर्शन के प्रणेता हैं महर्षि कणाद। ये दोनों शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा की

स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। इन्होंने आत्मा को सुखाद्याश्रय तथा इन्द्रिय अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया है। इनके अनुसार ज्ञानादि नौ विशेष गुण (ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार) आत्मा के आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। ज्ञानादि आत्मा का स्वभाव नहीं, इसीलिए जब आत्मा को मोक्ष होता है तब उसमें ज्ञानादि गुणों का अभाव हो जाता है^५। ज्ञान के अभाव में आत्मा जड़ हो जाता है। इसीलिए लोग इस तरह की मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन के जंगल में सियार बनना ज्यादा पसन्द करते हैं^६। सांसारिक अवस्था में आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता भी है। यह नित्य है, व्यापक है, अमूर्त है और निष्क्रिय भी है। व्यापक होने पर भी ज्ञान-सुखादि का अनुभव स्वयं नहीं करता अपितु अणुरूप मन की सहायता से करता है। मन प्रत्येक शरीर में भिन्न है, क्रियावान् होने से मूर्त तथा अणु है^७। अतः आत्मा व्यापक होकर भी शरीर में ही ज्ञान-सुखादि का अनुभव करता है, बाहर नहीं। आत्मा प्रतिशरीर में होने से अनेक है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है। केवल ईश्वर का ज्ञान नित्य है, वह सर्वज्ञ है, व्यापक है, सृष्टिकर्ता है और सर्वशक्तिमान् भी है। कुछ ईश्वर को सशरीरी और कुछ अशरीरी मानते हैं। 'आत्मत्व' जाति ईश्वर और जीवात्मा दोनों में है। जीवात्मा बद्ध है और ईश्वर सदा मुक्त। मुक्तावस्था में ज्ञान-सुखादि का अभाव हो जाने से वह पाषाणवत् हो जाता है। शरीर को आत्मा समझना मिथ्या ज्ञान है और मिथ्याज्ञान से राग-द्वेष, पाप-पुण्य, जन्म-मरण तथा दुःख रूप संसार-परिभ्रमण होता है। मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर राग-द्वेष नष्ट हो जाता है। तदनन्तर पाप-पुण्य की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। प्रवृत्ति के अभाव में जन्म का अभाव हो जाता है और जन्म का अभाव होने पर दुःख का अभाव हो जाता है। ज्ञान की सत्ता देश और काल में भी मानी गई है परन्तु वहाँ ज्ञान की सत्ता क्रमशः दैशिक और कालिक सम्बन्ध से है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। इसी से देश और काल के साथ आत्मा का पार्थक्य प्रकट होता है। प्रारब्ध कर्मों के उपभोग के बिना पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं है। ये जीवन-मुक्ति (अपर-निःश्रेयस्) और विदेह मुक्ति (पर-निःश्रेयस्) दोनों मानते हैं। इस तरह इनकी आत्मा ज्ञानाश्रय होकर भी ज्ञान स्वरूप नहीं है। चार्वाक और बौद्धों के चिन्तन की अपेक्षा इनका आत्म तत्त्व, जड़ तत्त्व से कुछ पृथक् है।

४. सांख्य-योग

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि हैं तथा योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि। सांख्य को निरीश्वरवादी और योग को ईश्वरवादी कहा जाता है। दोनों ही प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। योग दर्शन में ईश्वर को क्लेश, कर्म

आदि से रहित पुरुष-विशेष कहा गया है। आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है जो कूटस्थ नित्य, त्रिगुणातीत (सत्त्व, रजस् और तमस् से रहित), अविकारी, निर्लिप्त, निर्गुण, अकर्ता, अप्रसवधर्मी और साक्षी है। पुरुषों की संख्या अनेक है^५। ज्ञान (बुद्धि) जड़ प्रकृति का परिणाम है जिसे महत् तत्त्व कहा गया है। इसका सम्बन्ध जब आत्मा से होता है तो वह पुरुष ज्ञानरूप हो जाता है किन्तु मुक्तावस्था में प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के कारण वह ज्ञान, सुखादि से रहित हो जाता है। संसारावस्था में आत्मा के साथ जब बुद्धि का सम्पर्क होता है तब वह सुखादि का अनुभव करता है। प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है। पुरुष और प्रकृति का भेदकज्ञान (विवेक ज्ञान) होने पर जीवात्मा की मुक्ति होती है। 'वस्तुतः बन्धन और मोक्ष प्रकृति का होता है' ऐसा सांख्यकारिका में कहा गया है^६। क्रियाशीलता प्रकृति का धर्म है, आत्मा का नहीं। वह तो अविकारी है, निष्क्रिय है, अकर्ता है, सर्वव्यापक है, सर्वधर्मी है, चैतन्यरूप है परन्तु ज्ञान उसका स्वभाव नहीं है, इसीलिए मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता है।

सात्त्विक बुद्धि के चार गुण हैं— धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। तामस बुद्धि के भी चार गुण हैं— अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। सात्त्विक बुद्धि से (महत्) अहंकार, मन, और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तामस से तन्मात्राएँ और महाभूत पैदा होते हैं प्रकृति का विकार होने से स्वभावतः बुद्धि अचेतन है। बुद्धि में जब चैतन्यात्मक पुरुष प्रतिबिम्बित होता है और प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों के साथ सम्पर्क होता है तो उसे ही ज्ञान कहते हैं। बुद्धि में चैतन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब होने पर परस्पर उपकार होता है और प्रतिबिम्बित पुरुष ज्ञाता और भोक्ता कहलाता है। पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है और प्रकृति के कार्य पुरुष के लिए होते हैं। पुरुष अनेक हैं। इस तरह इन दोनों दर्शनों में मुक्तावस्था में ज्ञान, सुख आदि का अभाव है क्योंकि ये प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने पर होते हैं। प्रकृतिलीन पुरुष भी मुक्त कहलाते हैं परन्तु वे भविष्य में पुनः बन्धन में आ सकते हैं। सदा मुक्त ईश्वर अन्य मुक्तों से भिन्न है। संसारी पुरुष ॐ का ध्यान करने से ईश्वर की कृपा का पात्र होता है तथा उसे स्व-स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जाता है। ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है। योगदर्शन में चिकित्साशास्त्र की तरह (रोग, रोग हेतु, आरोग्य और औषध) चार व्यूह हैं— दुःखमय संसार, संसार का हेतु प्रकृति-संयोग, मोक्ष (प्रकृति-संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति) और निवृत्ति का उपाय (सम्यग् दर्शन, अष्टाङ्ग योग आदि)।

बौद्ध दर्शन में भी इस प्रकार के चार आर्य सत्य बतलाए हैं— दुःख, दुःख के कारण, दुःख से निवृत्ति और दुःख-निरोधोपाय। चित्त (अन्तःकरण = बुद्धि, मन

और अहंकार) की पाँच भूमियाँ बतलायी हैं— १. क्षिप्त (रजोगुणोद्रेक), २. मूढ (तमोगुणोद्रेक), ३. विक्षिप्त (सत्व-मिश्रितोद्रेक), ४. एकाग्र (सत्वोद्रेक) और ५. निरुद्ध (चित्त निरोध)। इस तरह सांख्य-योग दर्शन न्याय-वैशेषिक के आत्म-तत्त्व से एक कदम आगे तो बढ़ता है परन्तु ज्ञान-सुखादि को उसका स्वभाव नहीं मानता है। पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध और उस सम्बन्ध से निवृत्ति भी एक अनसुलझी पहेली बनी रहती है।

५. मीमांसा (पूर्व-मीमांसा)

इसे पूर्व-मीमांसा तथा कर्म-मीमांसा भी कहते हैं। इसके प्रतिपादक महर्षि जैमिनि हैं। इस दर्शन के तीन प्रमुख व्याख्याता हैं— कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र तथा पार्थसारथी मिश्र। इन तीनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में थोड़ा अन्तर है। तीनों ही अपौरुषेय वेद को प्रमाण मानते हैं।

इस दर्शन में आत्मा को कर्ता-भोक्ता तथा प्रतिशरीर में भिन्न होने से अनेक माना गया है। न्याय-वैशेषिक की तरह यहाँ भी ज्ञान आदि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से हैं। प्रतिशरीर में आत्मा के भिन्न होने पर भी आत्मा को व्यापक तथा नित्य माना गया है। इनके यहाँ कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। व्यक्ति कर्मानुसार शरीर धारण करता है, मुक्तावस्था में दुःखों का अत्यन्ताभाव होता है। भाट्ट मत के अनुसार आत्मा में परिणमन क्रिया पायी जाती है। क्रिया दो प्रकार की है^{१०}- स्पन्दरूप (जिसमें स्थान-परिवर्तन हो) और परिणमनरूप (जिसमें रूप परिवर्तन हो, स्थानपरिवर्तन नहीं)। इस तरह भाट्ट परिणामी वस्तु को भी नित्य मानते हैं। आत्मा के दो अंश हैं— चित् और अचित्। चिदंश से ज्ञान का अनुभव होता है अचिदंश से परिणमन क्रिया होती है। सुख-दुःखादि आत्मा के विशेष धर्म हैं जो अचिदंश के ही परिणमन हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप न होकर चैतन्यविशिष्ट है। अनुकूल परिस्थितियों में शरीर एवं विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय होता है। स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क न होने से आत्मा में चैतन्य नहीं रहता है। इस तरह आत्मा चित् एवं अचित् उभयरूप है। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष है- 'अहं आत्मानं जानामि' इस अनुभव के आधार पर आत्मा को ज्ञान और विषय दोनों का कर्ता मानते हैं^{११}। निष्काम कर्म से और आत्मिक ज्ञान से सब कर्मों का विनाश और मुक्ति होती है।

प्रभाकर मिश्र (गुरु) आत्मा में क्रिया नहीं मानते हैं। आत्मा 'अहं' प्रत्यय-गम्य है। ज्ञान का कर्ता आत्मा है। प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलय ही मोक्ष है। चोदना (विधि) ही धर्म है। पार्थसारथी मिश्र मोक्ष में सुख और दुःख दोनों का अत्यन्ताभाव मानते हैं। भाट्टों की एक परम्परा मोक्ष में शुद्धानन्द का अस्तित्व मानती है^{१२}।

६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

इस तरह कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा चित्-अचित् उभयरूप है। 'आत्मा क्रियाशील है अथवा नहीं' इस सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र में मतभेद है। आत्मा के व्यापक होने से भाट्ट स्पन्दरूप क्रिया नहीं मानते हैं। केवल रूप परिवर्तन को क्रिया मानते हैं। वस्तुतः मीमांसा दर्शन का उद्देश्य वेदविहित-विधि वाक्यों का व्याख्यान करना है^{१३}। मीमांसा में मोक्ष-विषयक दर्शन का विचार बाद में लौगाक्षिभास्कर द्वारा हुआ है। ये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। न्याय-वैशेषिक आत्मा में क्रिया स्वीकार नहीं करते हैं। इस दर्शन की खास विशेषता है आत्मा को नित्य-परिणामी स्वीकार करना जैसा कि जैनदर्शन में माना जाता है। आत्मा में चित् और अचित् दोनों मानना असंगत है।

६. वेदान्त (उत्तर-मीमांसा या ज्ञान-मीमांसा)

उपनिषद् विद्या ही वेदान्त विद्या (वेद+अन्त) है। महर्षि वादरायणव्यास कृत ब्रह्मसूत्र (उपनिषदों पर आश्रित) की व्याख्या कई आचार्यों ने की है जिससे वेदान्त के कई उपभेद हो गए हैं। इसमें शङ्कराचार्य का अद्वैत-वेदान्त प्रमुख है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा ब्रह्म (परमात्मा) ही है। ब्रह्म निर्विकल्पक, निरुपाधिक, निर्गुण, निर्विकार और चैतन्यरूप है। निर्गुण ब्रह्म जब अनिर्वचनीय माया से उपहित हो जाता है तो वह ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। विश्व की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण यही ईश्वर है। यह ईश्वर न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह सृष्टि का केवल निमित्त कारण नहीं है अपितु निमित्त और उपादान कारण दोनों है। वह चैतन्य ब्रह्म जब अन्तःकरणावच्छिन्न होता है तो उस चैतन्य को जीव कहते हैं अर्थात् शरीर और इन्द्रियों का अध्यक्ष और कर्म-फल-भोक्ता आत्मा ही जीव है। उसका चैतन्य न्याय-वैशेषिक की तरह कादाचित्क (कभी होना और कभी नहीं होना) रूप नहीं है अपितु सदा (स्वप्न, सुषुप्ति और जागृत) तीनों अवस्थाओं में रहने वाला है। ब्रह्म का ही रूप होने से आत्मा भी व्यापक है। उसमें जो अणुरूपता की कल्पना की जाती है वह उसके सूक्ष्म रूप होने के कारण है। आत्म-चैतन्य को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों में देखा जा सकता है परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य-रूप इन पञ्च कोशों से नितान्त भिन्न है। यह आत्मा नित्य है, व्यापक है, चैतन्यस्वरूप है, एक है, स्वयंसिद्ध है। बुद्धि के कारण इसमें चञ्चलता प्रतीत होती है अन्यथा वह शान्त स्वभाव है। यह ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञान पृथक् नहीं हैं, आत्मा ज्ञानरूप भी है और ज्ञाता भी है। आत्मा के समक्ष जब विषय उपस्थित रहता है तो वह ज्ञाता हो जाता है अन्यथा वह केवल ज्ञानरूप रहता है अर्थात् ज्ञान ही

ज्ञाता हो जाता है। ज्ञेय विषय के न रहने पर ज्ञाता की कल्पना नहीं रहती है। अनित्य ज्ञान जो विषय-सान्निध्य से उत्पन्न होता है वह अन्तःकरणावच्छिन्न-वृत्ति मात्र है। विषय और विषयी का पार्थक्य व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं क्योंकि परब्रह्म ही कभी विषयी रूप से, कभी विषय रूप से ज्ञात होता है। वह एक अखण्डरूप है और नानात्मक जगत् काल्पनिक या मायिक है। सगुण ब्रह्म उसका तटस्थ लक्षण (आगन्तुक) है और चिदानन्दरूप निर्गुण ब्रह्म उसका स्वरूप लक्षण (तात्त्विक) है। आचार्य शङ्कर माया को त्रिगुणात्मिका, ज्ञान-विरोधी, भावरूप तथा अनिर्वचनीय ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति मानते हैं। इस तरह शङ्कर वेदान्त में आत्म-तत्त्व परम शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का ही रूप है। अतः मुक्तावस्था में जीव ब्रह्मरूप ही हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' इन महावाक्यों से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है^{१५}। मुक्तावस्था में ज्ञान, सुखादि भी रहते हैं। इस मत में समस्या यह है कि जब सब ब्रह्म रूप है तो वह बन्धन में कैसे पड़ा? और एक के मुक्त होने पर सभी को मुक्त क्यों नहीं माना गया? यदि उसमें अंश की कल्पना करते हैं तो उसका विभु (व्यापक) रूप नष्ट होता है।

७. वैष्णव दर्शन

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच समुदाय प्रमुख हैं—

(क) रामानुज दर्शन

यह दर्शन विशिष्टाद्वैतवादी है। इनके मत में ब्रह्म में सजातीय और विजातीय भेद न होकर स्वगत भेद है, जबकि शङ्कर वेदान्त में ब्रह्म तीनों प्रकारों के भेदों से रहित है। यहाँ ब्रह्म के दो अंश हैं— चित् और अचित्। अतः तीन पदार्थ हैं— चित्, अचित् और ईश्वर। चित् से तात्पर्य है भोक्ता जीव, अचित् से तात्पर्य है भोग्य जगत् तथा चित्-अचित् विशिष्ट से तात्पर्य है ईश्वर। यह ईश्वर जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। यह कारण-व्यापार न तो अविद्या कर्म-निबन्धन है और न कर्मयोगमूलक है अपितु स्वेच्छाजन्य है। जीव तत्त्व अत्यन्त अणु, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, आनन्दरूप, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, अजड़ तथा देह, इन्द्रिय-मन प्राण बुद्धि से विलक्षण है^{१५}।

(ख) माध्व दर्शन^{१६}

आनन्दतीर्थ का प्रसिद्ध नाम था 'मध्व'। यह ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाता है। इनके मत में 'विष्णु' अनन्त गुण सम्पन्न परमात्मा हैं। 'लक्ष्मी' परमात्मा की शक्ति है। संसारी जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त है। ये तीन प्रकार के हैं— मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य। ये तीनों क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के होते हैं। मुक्त जीवों के ज्ञान, आनन्दादि गुणों में तारतम्य पाया

८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

जाता है। जैनदर्शन में इन तीनों प्रकार के जीवों को क्रमशः भव्य, भव्याभव्य और अभव्य कहा है। चैतन्यांश को लेकर ही भगवान् के साथ जीव की एकता प्रतिपादित की गई है।

(ग) निम्बार्क दर्शन

इसे सनत्कुमार सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत में जीव अणुरूप तथा संख्या में अनेक हैं। वह हरि का अंशरूप है^{१७}। अंश का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है अपितु शक्तिरूप है। जीव कर्ता भी है और ज्ञान स्वरूप भी है।

(घ) वल्लभ दर्शन

इस दर्शन को रुद्र सम्प्रदाय भी कहते हैं। जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप, अग्नि के स्फुलिङ्ग के समान अणुरूप तथा नित्य है। जीव तीन प्रकार के होते हैं— शुद्ध, मुक्त एवं संसारी। यह भक्तिमार्गीय (पुष्टिमार्गीय) दर्शन है। यहाँ ईश्वर-भक्ति ही सब कुछ है। ब्रह्म क्रीडार्थ जगत् का रूप धारण करता है। इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है। इनके सिद्धान्त में ब्रह्म माया से अलिप्त होने से नितान्त शुद्ध है^{१८}।

(ङ) चैतन्य दर्शन

इस मत के प्रमुख थे महाप्रभु चैतन्यदेव तथा उनके शिष्य रूपगोस्वामी। इसे हम अपने कीर्तनों से बङ्ग देश को रसमय तथा भावविभोर करने वाला मत कह सकते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ब्रह्म में सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नहीं हैं। ब्रह्म परमात्मा अखण्ड, सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि अनन्त गुणों से युक्त है। भगवान् का विग्रह (शरीर) तथा गुण उससे भिन्न नहीं है। भाषा की दृष्टि से उनका पार्थक्य किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से अचिन्त्य-भेदाभेद है^{१९}। परमात्मा मूर्त होकर भी विभु है। जीव परिच्छिन्न स्वभाव तथा अणुत्व शक्ति-युक्त है।

८. शैव दर्शन (शैव तन्त्र दर्शन)

यहाँ जीव को 'पशु' कहा गया है, परमेश्वर शिव को 'पति', माया रूपी जगत् को 'पाश' कहा गया है। जीव शिव का ही अंश माना गया है परन्तु वह अणुरूप और सीमित शक्ति सम्पन्न है, संख्या में अनेक है। शिवत्व-प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञान तथा क्रिया शक्ति का उदय होता है। पासों के तारतम्य के कारण पशु (जीव) तीन प्रकार का होता है— विज्ञानाकल्प, प्रलयाकल्प और सकल। जीवों के तीन भाव हैं— १. पशुभाव- जिनमें अविद्या का आवरण न हटने से अद्वैत ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं है। इनकी मानसिक अवस्था पशुभाव है। ये संसार मोह में बँधे होने के कारण अधम पशु हैं। सत्कर्मपरायण-भगवद् भक्त

उत्तम पशु हैं। २. वीरभाव- जो अद्वैतामृत की कणिका का आस्वादन करके अज्ञान-रज्जु को कुछ मात्रा में काटकर कृतकार्य होते हैं, वे वीरभाव में हैं। ३. दिव्यभाव- जो द्वैतभाव हटाकर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं। ये उपास्य देवता की सत्ता में अपने को लीन कर देते हैं।

९. पाञ्चरात्र दर्शन (वैष्णव तन्त्र दर्शन)

इस मत में जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ है परन्तु ईश्वर की तिरोधानाशक्ति के कारण जीव अगु, अकिञ्चित्कर और किञ्चिज्ञ हो जाता है। ईश्वर जीवों की दीन-हीन दशा को देखकर करुणावश उनपर करुणा की वर्षा करते हैं।

१०. शाक्त-तन्त्र दर्शन

शाक्तधर्म का उद्देश्य जीवात्मा (उपासक) की परमात्मा (उपास्य) के साथ अभेदसिद्धि है। यह अद्वैतवाद का साधनमात्र है। सच्चा शाक्त वही है जो 'मैं ही ब्रह्म हूँ, सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ तथा नित्यमुक्त स्वभाव वाला हूँ' ऐसा विचार करता है^{२०}। कुछ शाक्त वेदानुयायी हैं और कुछ वेद बाह्य हैं। कुछ शाक्तों के वामाचारी (घृणिताचारी) होने से शाक्त बदनाम हैं अन्यथा शाक्तों में परब्रह्म सर्वज्ञ, शिव, स्वयंज्योति, निष्फल, अनादि-अनन्त, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द रूप है^{२१}। जीव अग्नि-स्फुलिङ्गवत् उससे जन्य है।

११. जैन दर्शन^{२२}

इस दर्शन में शरीर, मन, प्राण आदि से सर्वथा भिन्न चैतन्य को आत्मा कहा गया है। शुद्ध आत्मा को अनन्त चतुष्टय (अनन्त सुख, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन) से सम्पन्न माना गया है। संसारावस्था में आठ प्रकार के कर्मों से आवृत्त होने के कारण उसके चारों विशेष गुण आंशिक रूप से प्रकट होते हैं। जब आत्मा कर्मों के आवरण को तप-साधना के द्वारा पूर्णरूपेण हटा देता है तो उसके ये चारों विशेष गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। संसारावस्था में आत्मा के ये गुण उसी प्रकार तिरोहित रहते हैं जिस प्रकार बादलों के द्वारा सूर्य का प्रकाश तिरोहित हो जाता है और बादलों के हटने पर सूर्य का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है। एकेन्द्रियादि जीवों की सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में ज्ञानादि गुणों का उसके साथ कभी भी अभाव नहीं होता है। अतः कहा है 'उपयोग' जीव का लक्षण है और वह दो प्रकार का है— ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जीवों की राशि अनन्त है और उसमें परिणामी-नित्यता (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) पायी जाती है। इसमें ऊर्ध्वगमन स्वभाव माना जाता है। अतः जीव मुक्त होने पर लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करके स्थिर हो जाता है। अरूपी होने से वह हमारी

इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता। निश्चय की दृष्टि से आत्मा सदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अकर्ता और अभोक्ता है परन्तु संसारावस्था में व्यवहार दृष्टि से वह कर्ता, भोक्ता आदि है। उसे जो शरीर प्राप्त होता है तदनुरूप हो जाता है। इसीलिए उसे शरीर-परिमाण कहा गया है, न व्यापक और न अणु। मुक्तावस्था में शरीर का अभाव हो जाता है परन्तु वह अपने पूर्व शरीर के आकार को नहीं छोड़ता है। सामान्य से सभी जीवों का आकार लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है। संकोच-विकास शक्ति के कारण वह छोटे-बड़े शरीर में रह सकता है। वह सूक्ष्म और अरूपी भी है। मृत्यु के बाद भी संसारावस्था में उसके साथ कर्मण और तैजस्ये दो सूक्ष्म शरीर अवश्य रहते हैं। ज्ञानादि गुण आत्मा से कभी पृथक् नहीं होते हैं अतः उन दोनों में कोई भेद नहीं है फिर भी व्यवहार से (द्रव्य-गुण के भेद से) उनमें भेद किया जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह ज्ञान और आत्मा में सर्वथा भेद नहीं है। अनेकान्तवादी दर्शन में अपेक्षाभेद से भेदाभेदकत्व बन सकता है। इसी तरह आत्मा बौद्धों की तरह क्षणिक तथा वेदान्तियों की तरह सर्वथा नित्य नहीं है परन्तु अपेक्षाभेद से नित्यानित्यात्मक है। मुक्त होने पर अशरीरी हो जाता है परन्तु मुक्तिपूर्व के शरीर का आकार (कुछ न्यून) बना रहता है। कर्म सम्बन्ध न होने से उनका संकोच-विकास नहीं होता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति में भी जीवत्व की सत्ता मानी जाती है। पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर पृथ्वी होता है, जलकायिक जीवों का शरीर जल। ये जीव एकेन्द्रिय होते हैं और इसके आगे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय होते हैं। कोई नित्य ईश्वर नहीं है और जिन्हें ये ईश्वर मानते हैं वे वीतरागी होने से न तो क्रोधादि करते हैं और न कृपादि करते हैं। ये सांख्य दर्शन की तरह साक्षी मात्र होते हैं। सूक्ष्मता और अरूपता के कारण एक अणुरूप स्थान में भी अनन्त जीव रह सकते हैं। मन को इन्होंने जड़ (पुद्गल) स्वीकार किया है। यह मन अणुरूप है और चैतन्य आत्मा के सम्पर्क से चेतनवत् कार्य करता है। यह मन पञ्चेन्द्रिय जीवों में ही सम्भव है। जैनदर्शन में मन की कल्पना विशेष प्रकार से की गई है। इस तरह जैन दर्शन में आत्मा के विविध रूपों का विस्तार से चिन्तन किया गया है और उसे वेदान्त की तरह ज्ञानरूप माना गया है। इसीलिए मुक्तावस्था में ज्ञान, सुख आदि गुण उसके साथ अभिन्न रूप से रहते हैं।

उपसंहार

इस तरह इन सभी दर्शनों में जो आत्मतत्त्व का चिन्तन किया गया है उनमें चार्वाक और बौद्धों को छोड़कर सभी शरीर आदि से भिन्न आत्मा को स्वीकार करते हैं। कहीं चैतन्य उसका स्वरूप है, कहीं आगन्तुक धर्म, कहीं कूटस्थ नित्य

है तो कहीं परिणामी नित्यानित्य। कहीं अणुरूप है तो कहीं व्यापक या शरीर परिमाण। कहीं ईश्वर या ब्रह्म का अंश है तो कहीं ब्रह्म का विवर्त। कहीं मुक्तावस्था में अनन्त ज्ञान और सुख है तो कहीं ज्ञान और सुख दोनों का सर्वथा अभाव या केवल दुःखाभाव या शून्यता है। कहीं कर्ता और भोक्ता है तो कहीं अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के लिए स्वतंत्र नहीं है। कहीं एक है तो कहीं अनेक। वह शरीर से भिन्न है, अरूपी है तथा चैतन्य के साथ उसका या तो गुण-गुणीभाव सम्बन्ध है या स्वयं चैतन्यरूप है। इस विषय में सभी आत्मवादी दर्शन एकमत हैं। आत्मा को चैतन्यरूप तथा ज्ञानरूप मानने में ही समस्याओं का समाधान है अन्यथा इसे मानने का कोई मतलब नहीं है। इसी तरह संख्या में अनेक, शरीर-परिमाण, सूक्ष्म, परिणामी नित्य और अरूपी मानना भी आवश्यक है। किसी न किसी रूप में सभी आत्मवादी दर्शन और तन्त्रवादी इससे सहमत हैं यदि कुछ अन्तर है तो अपेक्षाभेद का। मुक्तावस्था में स्व-स्वीकृत सिद्धान्तानुसार सभी ने आत्मा की शुद्ध स्व-स्वरूपोपलब्धि को माना है। विज्ञान इस विषय में निरन्तर खोज कर रहा है परन्तु अभी तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा है।

सन्दर्भ सूची

१. सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४-८; द्रष्टव्य भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी १९५७, पृ० १३५।
२. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।
जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूल-पूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् ॥ सर्व सिद्धान्त संग्रह, २/७
३. कृत-प्रणाशाकृतकर्मभोग-भवप्रमोक्ष-स्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन् अहो महासाहसिकः परोऽसौ ॥
अन्ययोगच्छेदद्वात्रिंशिका, आचार्य हेमचन्द्र, श्लोक १८
४. तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः। न्यायसूत्र १.१.२२
५. स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥ न्यायमंजरी, पाण्डुरङ्ग जावजी, बम्बई १९३३, पृ० ७७,
६. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षस्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥ स०सि०सं०, पृ० २८
मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

१२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

- गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्य तथैव सः॥ नैषधचरित, १७.७५
७. साक्षात्कारे सुखादीनां कारणं मन उच्यते।
अयौगपघात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ भाषापरिच्छेद, कारिका ८५
८. सांख्यकारिका, कारिका १८
- ९ तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥
१०. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते ।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत् ॥ श्लोकवार्तिक, पृ० ७०७
११. चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन।
ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम् । स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्यः।-
सदानन्द, अद्वैतब्रह्मसिद्धि।
१२. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसाभुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥ मानमेयोदय, पृ० २१२ तथा
देखें वेदान्तकल्पलतिका, पृ० ४
१३. चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः। - जैमिनि, द्वादशलक्षणी, १.१.२
१४. अहं ब्रह्मास्मि- बृह० उप०, १.४.१०, अयमात्मा ब्रह्मा -माण्डूक्य
उप०२, तत्त्वमसि। छा० उप०, ६.८.७, द्रष्टव्य, उपनिषत्संग्रह,
पण्डित जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
१५. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५.९॥
१६. देखें, भागवत-तात्पर्य-निर्णय, माध्वबृहद्भाष्य ।
१७. ज्ञान स्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोग-वियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥ दशश्लोकी, १.
१८. कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् । शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २८
१९. विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात् । सिद्धान्तरत्न, पृ० २३
२०. अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥ कुलार्णव, १/६
२१. वही, १/६-१०
२२. देखें, द्रव्यसंग्रह, गाथा २-१४, ५०-५१

अङ्ग आगम में प्रयुक्त देश्य शब्द : हिन्दी शब्दों के प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में

डॉ० अशोक कुमार सिंह

यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्राकृत की विभिन्न बोलियों, पालि और अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय भाषाओं—आर्य एवं द्राविड़, के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। अर्धमागधी आगमों में द्वादशांगी जैन परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। अङ्ग साहित्य में उपलब्ध देश्य शब्दों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कुछ देश्य शब्द यथावत्—अर्थ एवं स्वरूप, तो कुछ किञ्चित् ध्वनि-परिवर्तनों, अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच के साथ हिन्दी साहित्य और बोलचाल में प्रयुक्त हो रहे हैं। यद्यपि ये शब्द अर्धमागधी आगमों की रचना से पूर्व भी प्रयोग में आ रहे होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु हिन्दी के शब्दों की उत्पत्ति, अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार, ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से अङ्गों में उपलब्ध देश्य शब्दों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। उल्लेखनीय है कि इनमें से कुछ शब्द भाषागत विशेषताओं के साथ पालि और अपभ्रंश में भी पाये जाते हैं। इस लेख का उद्देश्य हिन्दी शब्दों के प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में सामान्य रूप से प्राचीन जन-भाषाओं की महत्ता के निदर्शन के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के समग्र रूप को समझने के लिए इन जन-भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता को रेखांकित करना है।

—सम्पादक

‘अनेकता में एकता’ भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख धाराओं वैदिक और श्रमण में से वैदिक परम्परा ने संस्कृत को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। जबकि श्रमण परम्परा की पोषक जैन और बौद्ध परम्पराएँ लोकाभिमुख रहीं। जन सामान्य तक अपने संदेशों को पहुँचाने के लिए प्राकृत (अनेक बोलियों के समूह) को अपनाया। काल और क्षेत्र के अनुसार प्राकृत की विभिन्न बोलियों का प्रादुर्भाव हुआ और उन बोलियों में रचित प्रभूत साहित्य भी उपलब्ध है। भगवान् महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम अर्धमागधी प्राकृत को बनाया तो भगवान् बुद्ध ने पालि को।

जैन परम्परा का प्राचीनतम साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में रचित जैन आगम है। आगमों का रचनाकाल ५वीं शती ई० पू० से ईसा की ५वीं शती के मध्य माना

जाता है। श्रमण परम्परा का आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रारम्भिक साहित्य प्रायः जैन श्रमणों द्वारा रचित है। श्रमणों का कार्यक्षेत्र आर्यभाषाओं तक ही सीमित नहीं रहा अपितु द्राविड़ भाषाओं को भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। तमिल और कन्नड़ भाषाओं के प्राचीन साहित्य-सर्जन में भी श्रमणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।^१ जैन श्रमण साहित्य की एक प्रमुख विशेषता इसमें लोकभाषा के स्वाभाविक मूल तत्त्वों की उपलब्धता है। भारतीय आर्यभाषाओं में विद्यमान लोकभाषा के प्राचीनकाल से लेकर आज तक के क्रमिक विकास को ज्ञात करने के लिए अर्धमागधी आगम एवं पालि त्रिपिटक के रूप में उपलब्ध श्रमण साहित्य ही मुख्य साधन है। देश्य शब्दों के रूप में प्राकृत साहित्य में ये तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। प्राकृत की शब्द-सम्पत्ति तत्सम (संस्कृत शब्द) और तद्भव (संस्कृत से निष्पन्न) और देश्य - इन तीन वर्गों में विभक्त की गई है। देश्य शब्द व्याकरण के नियमों से निष्पन्न न होकर जन-सामान्य की बोलचाल में प्रचलित रूढ़ शब्द हैं।^२

जैन आगमों— ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, चार मूल सूत्र, छः छेदसूत्र, दो चूलिका में उपलब्ध देश्य शब्द आज भी यथावत् (उसी रूप में) या कुछ परिवर्तन के साथ हिन्दी भाषा में प्रयुक्त हो रहे हैं। इस लेख का उद्देश्य अङ्ग साहित्य में उपलब्ध इन इन शब्दों का प्रारम्भिक साहित्यिक स्रोत सुनिश्चित करना है। इस दृष्टि से पालि-त्रिपिटक और वेद-संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदों में भी उन (आगमोपलब्ध देश्य शब्दों की) उपलब्धता का भी अध्ययन किया गया है। यद्यपि देश्य शब्दों के संस्कृत साहित्य में पाए जाने की सम्भावना अत्यन्त क्षीण है। पालि-त्रिपिटक साहित्य में आगमोपलब्ध इन देश्य शब्दों की प्राप्ति से ऐसे शब्दों के साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग पर प्रकाश पड़ सकता है। ऐसे शब्दों से सम्बद्ध सभी रूपों को सङ्कलित किया गया है। आगमोपलब्ध देश्य शब्दों की अधिक संख्या को देखते हुए इस लेख में मात्र अङ्ग साहित्य के कुछ ग्रन्थों को आधार बनाया गया है।

अङ्ग आगमों में प्राप्त देश्य शब्दों का सङ्कलन करते समय कुछ ऐसे शब्द उपलब्ध हुए जो उसी रूप में या कुछ परिवर्तन के साथ अंग्रजी में भी प्रयोग किए जाते हैं। इन शब्दों का भी विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

कफ (Cough) - कफ शब्द प्राकृत और संस्कृत साहित्य में भी समान रूप में प्रयुक्त हुआ है।^३ संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'केन जलेन फलति' अर्थात् जो

जल से परिणाम को उत्पन्न होता है, यह बताया गया है।^५ संस्कृत में कम् का अर्थ जल बताया गया है।^६ स्थानाङ्गसूत्र की वृत्ति में (नवाङ्गीकार अभयदेवसूरि) में कफ का प्रयोग मिलता है।^७

डेप (Deep) – छेदसूत्र व्यवहार भाष्य की टीका^८ में ‘डेप’ शब्द का प्रयोग गहरे अर्थ में प्राप्त होता है। डेप देश्य शब्द की अंग्रेजी के ‘डीप’ से समानता है।

बोदि (Body) – बोदि शब्द जैन आगम साहित्य में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। आचाराङ्गचूला^९, सूत्रकृताङ्ग^{१०} व व्याख्याप्रज्ञप्ति^{११}, में ‘भासुर बोदि’ शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्थानाङ्गसूत्र^{१२} में एक पद का शीर्षक ही ‘बोदि पद’ है। उल्लेखनीय है कि स्थानाङ्गसूत्र का वर्गीकरण स्थान, उद्देशक (किसी-किसी स्थान में), पद (प्रकरण) और सूत्र में है।

वरांडा (Verandah) – जीतकल्प विषमपद व्याख्या^{१३} में वराण्डा अंग्रेजी शब्द verandah (हिन्दी अर्थ बरामदा) के समान अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार अंग्रेजी के कुछ शब्द भी जन सामान्य द्वारा ईसा पूर्व से ही बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त किये जाते रहे हैं और इनके प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में अर्धमागधी अङ्गसाहित्य और उसका व्याख्या साहित्य माना जा सकता है।

चाय और आलू

आगम ग्रन्थों में उपलब्ध देश्य शब्दों के सङ्कलन के क्रम में ‘चाय और आलू’ शब्द उपलब्ध हुए जिनकी उत्पत्ति (७७० वर्ष ई०पू०) क्रमशः चीन और चिली एवं पेरु देशों में मानी जाती है। निश्चित रूप से भारत में भी पेय के रूप में चाय का और सब्जी के रूप में आलू का प्रयोग बहुत पहले से होता रहा होगा। जहाँ तक साहित्य में ‘चाय और आलू के उपलब्ध होने का प्रश्न है पालि त्रिपिटक और वैदिक साहित्य तथा संस्कृत कोशों में ‘चाय’ शब्द का उल्लेख नहीं है। संस्कृत साहित्य में चाय शब्द का उल्लेख न होने का कारण इसका देश्य होना हो सकता है या सम्भवतः इस वनस्पति का उपयोग तो होता रहा है पर इसका नाम प्रचलित न रहा हो। विकिपीडिया मुक्तज्ञान कोश में ‘चाय की उत्पत्ति’ शीर्षक के विवरण में प्रदत्त यह तथ्य भी इसकी पुष्टि करता है-

सन् १८१५ कुछ अंग्रेज यात्रियों का ध्यान असम में उगने वाली चाय की झाड़ियों पर गया जिसे स्थानीय आदिवासी एक पेय बनाकर पीते थे। भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने सन् १८३४ में चाय की परम्परा भारत में विकसित करने और उसका उत्पादन करने की सम्भावना तलाश करने के लिए एक समिति का गठन किया। इसके बाद सन् १८३५ में असम में चाय के बाग लग गए।

इस स्थिति में प्राकृत भाषा में निबद्ध आगम मान्य प्रकीर्णक अंगविज्जां^{१४} 'चाय' शब्द का वनस्पति विशेष के रूप में उल्लेख महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

आलू (भगवती सूत्र)^{१५}

अमेरिकी वैज्ञानिकों के अनुसार आज से ७००० वर्ष से भी पहले से पेरू के किसान आलू की खेती कर रहे हैं। सोलहवीं सदी में स्पेन ने अपने दक्षिणी अमेरिकी उपनिवेशों से आलू को यूरोप पहुँचाया उसके बाद ब्रिटेन जैसे देशों ने आलू को दुनियाँभर में लोकप्रिय बना दिया।

जैन अङ्ग आगम में उपलब्ध देश्य शब्दों का विवेचन ग्रन्थ क्रम से इस प्रकार है—

गोल^{१६}

प्राकृत वाङ्मय में 'गोल' देश्य शब्द गोला और जार से उत्पन्न होने के अर्थ में प्रयुक्त होने के साथ-साथ साक्षी, निष्ठुरता, कठोरता आदि अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।^{१७} संस्कृत में भी यह शब्द पाया जाता है। जैन वाङ्मय में संस्कृत शब्द गोल वृक्ष-विशेष, वृत्ताकार, मण्डलाकार, कुण्डा, गेद आदि आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।^{१८} पालि साहित्य में उपलब्ध 'गोलो' शब्द भी गोल के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।^{१९}

चंगबेर

डालिया अर्थ में इस देश्य शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।^{२०} हिन्दी में इसका वर्तमान प्रचलित रूप चंगेर, चंगेरा, चंगेरी है। अपभ्रंश साहित्य में चंगबेर का चंगेडा रूप मिलता है।^{२१} चंगबेर से चंगेर की यात्रा प्राकृत के ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार है। चंगबेर के व् का लोप होकर ए शेष रहा है। ग् के अ और ए दोनों स्वरों के स्थान पर 'लुक' नियम से पूर्व स्वर का लोप होकर ग्+ए गे होकर चंगेर बना है।^{२२} उल्लेखनीय है कि आचाराङ्ग से प्रश्नव्याकरण परवर्ती ग्रन्थ है, उसमें चंगेरी शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^{२३}

चाउल

इस देश्य शब्द का प्रयोग आचाराङ्ग^{२४} में सर्वप्रथम प्राप्त होता है जो चावल, तण्डुल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंश में भी चाउल शब्द ही प्राप्त होता है।^{२५} आचार्य हेमचन्द्रकृत देशीनाममाला में भी चाउल का ही उल्लेख है।^{२६} राजस्थान में चाउल और भोजपुरी में चाउर शब्द प्रचलित है।^{२७} गुजराती में चावल शब्द मिलता है।^{२८} हिन्दी में आज चावल शब्द धान के सार भाग जो बीज से भूसी अलग कर देने पर शेष रहता है, पकाया हुआ चावल 'भात' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

टाल

आचारांगसूत्र^{२९} में टाल शब्द का प्रयोग है। गुठली उत्पन्न होने के पहले की अवस्था वाले फल को टाल कहा गया है। सम्भवतः ऐसे फलों के ढेर के लिए भी टाल शब्द प्रयुक्त होने लगा हो और धीरे-धीरे टाल ढेर और समूह का वाचक हो गया हो।

मट्टिय

आचारांगचूला^{३०} में 'मट्टिय' शब्द हिन्दी मिट्टी के अर्थ में प्रयोग किया गया है। प्राकृत वाङ्मय में मट्टिया और मट्टी शब्द भी मिट्टी के अर्थ में प्रयोग हुआ है। पाइअसद्महण्णवो में इन दोनों को ही संस्कृत शब्द मृत्तिका का प्राकृत बताया गया है।^{३१} अपभ्रंश में भी लगभग यही स्थिति है। यहाँ भी मट्टिया और मट्टी शब्द का प्रयोग मिलता है।^{३२} राजस्थानी भाषा में आज भी मट्टिया और मट्टी शब्दों का प्रयोग होता है। गुजराती में माटी शब्द प्रचलन में है। हिन्दी में भी मट्टी, मिट्टी, माटी सभी शब्द प्रचलन में हैं।^{३३}

माल

देश्य शब्द माल आचारांग में घर के ऊपरी भाग, मंजिल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^{३४} समवायांगसूत्र में भी माल शब्द मञ्जिल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देशीनाममाला^{३५} में माल शब्द आराम, बगीचा के अर्थ में प्रयोग में आया है। वहाँ इसके अर्थ मञ्च और आसन विशेष भी बतलाए गए हैं।^{३६} पालि त्रिपिटक महावंश में 'मञ्जिल' अर्थ में 'मालको' शब्द प्रयुक्त हुआ है।^{३७} गुजराती में मालो शब्द माल (मञ्जिल) अर्थ में आज भी प्रचलित है।^{३९}

मोल्ल

देश्य शब्द मोल्ल का हिन्दी रूप 'मोल' आज भी प्रचलित है। आचारांगसूत्र में मोल्ल शब्द सर्वप्रथम उपलब्ध होता है।^{४०} प्राकृत वाङ्मय में इसके मुल्ल और मुल्लिअ रूप भी प्राप्त होते हैं।^{४१} अपभ्रंश भाषा में भी मोल्ल, मुल्ल और मोलु शब्द मूल्य अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। राजस्थानी और महाराष्ट्री में भी मोल शब्द का प्रयोग होता है।^{४२}

कवल्ल

ग्रास अर्थ में हिन्दी में कवल शब्द का प्राकृत रूप कवल्ल सर्वप्रथम द्वितीय अंगग्रन्थ सूत्रकृताङ्गसूत्र में प्राप्त होता है।^{४३} अपभ्रंश साहित्य में इसके कवल और कवलु रूप प्राप्त होते हैं।^{४४} इससे ज्ञात होता है कि भाषा विज्ञान के प्रयत्नलाघव सिद्धान्त के अनुसार संयुक्त ल्ल के स्थान पर ल का प्रयोग होने लगा था। परन्तु

उकार बहुला अपभ्रंश की प्रवृत्ति के कारण अकारान्त कवल का प्रयोग उकारान्त कवलु के रूप में भी होने लगा था।

घर

संस्कृत शब्द गृह के लिए घर शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्राप्त होता है।^{५५} घर शब्द जैन अङ्ग ग्रन्थों में बहुतायत से प्रयोग हुआ है। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरीपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र लगभग सभी अङ्ग ग्रन्थों में 'घर' शब्द मिलता है।^{५६} अपभ्रंश साहित्य में भी घर का ही प्रयोग हुआ है। गुजराती में घर के लिए 'घेर' शब्द मिलता है।^{५७}

चिलमिली

हिन्दी में प्रयुक्त चिलमन, चिक, पर्दा आदि के अर्थ के वाचक कई शब्द जैन अङ्ग ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। आचारांगसूत्र^{५८} में देश्य शब्द चिलमिली के अतिरिक्त सूत्रकृतांग^{५९} में चिलमिलिगा, चिलमिलिया शब्द मिलता है। ओघनिर्युक्ति-भाष्य^{६०} में उपलब्ध चिलमिणी से चिलमन अत्यधिक साम्य रखता है और सम्भवतः चिलमिणी से ही चिलमन प्रचलन में आया।

डहर

डगर, मार्ग, रास्ता, राह आदि के साथ हिन्दी में समान अर्थ में प्रयोग किया जाने वाला देश्य शब्द डहर अङ्ग ग्रन्थों आचारांगसूत्र^{६१}, सूत्रकृतांग^{६२} और अन्तकृद्दशांग^{६३} में शिशु, लघु, छोटा छुद्र अर्थ में प्रयुक्त होता था। डहरग्राम का अर्थ छोटा गाँव के लिए होता था। अपभ्रंश^{६४} और देशीनाममाला^{६५} में भी इसी अर्थ का वाचक है। परन्तु कालान्तर में डहर शब्द सामान्य लघुता का वाचक न होकर पगडंडी आदि लघु मार्ग में प्रयोग होने लगा। इस प्रकार डहर शब्द के अर्थ में संकोच हुआ है।

कवाड़

लकड़ी, शीशे आदि के पल्ले के लिए संस्कृत, हिन्दी में कपाट, किवाड़, किवार आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। स्थानाङ्गसूत्र के साथ ही समवाययांगसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा और प्रश्न व्याकरण में कवाड़ शब्द का प्रयोग होता है।^{६६} पालित्रिपिटक महावंश^{६७} और दीघनिकाय^{६८} में कवाटकों, कवाटकम् कवाटो, कवाट शब्द मिलता है। अपभ्रंश वाङ्मय में कवाड़^{६९} के साथ कवाण शब्द का प्रयोग होता है। मराठी^{७०} में आज भी कवाड़ शब्द का प्रयोग किया जाता है।

मइल

समवायांगसूत्र में 'मइल' शब्द का प्रयोग मैला, गन्दा अर्थ में हुआ है।^{६१} अपभ्रंश में इसके अतिरिक्त मइल्ल और मइलि रूप भी प्राप्त होते हैं।^{६२} आचार्य हेमचन्द्रकृत देशीनाममाला में भी मइल शब्द उपलब्ध है।^{६३}

किलिंच

आज से तीन-चार दशक पहले छोटी कक्षाओं में किलिंच की लेखनी का प्रयोग किया जाता था। भगवतीसूत्र में किलिंच शब्द उपलब्ध है।^{६४} जिसका अर्थ है छोटी लकड़ी (लकड़ी का टुकड़ा)। देशीनाममाला में भी इस अर्थ में किलिंच शब्द मिलता है।^{६५}

गोड्ड

पाँव, पैर अर्थ में हिन्दी में गोड़ शब्द प्रचलित है जो भगवतीसूत्र^{६६} में उपलब्ध देश्य गोड्ड शब्द से निष्पन्न है। अपभ्रंश में गोड मिलता है जो हिन्दी गोड़ के निकट है।^{६७}

चोप्पाल

भगवतीसूत्र^{६८} में चोप्पाल शब्द मिलता है जिसका अर्थ^{६९} पाइअसदमहण्णवो में वरण्डा बताया गया है। हिन्दी में चौपाल शब्द है।

पोया

भगवतीसूत्र^{७०} में पोया शब्द साँप के बच्चे के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत वाङ्मय में पोअ शब्द शिशु अर्थ में प्रयुक्त है।^{७१} अपभ्रंश भाषा में पोअ का अर्थ एक छोटा साँप बताया गया है।^{७२} पोअ और पोय एक ही शब्द हैं। अ के स्थान पर य श्रुति हो गई है।^{७३}

बोल

बोल शब्द हिन्दी में वचन, जो कुछ बोला जाय, बात, शब्द, किसी बाजे की ध्वनि, संख्या, व्यंग्य प्रतिज्ञा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।^{७४} सर्वप्रथम भगवतीसूत्र में प्रयुक्त देश्य शब्द 'बोल' कोलाहल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^{७५} प्राकृत साहित्य में समूह अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है।^{७६} अपभ्रंश हिन्दी कोश में बोल का भाषण अर्थ लिया गया है।^{७७} देशीनाममाला में बोल शब्द का अर्थ तुमुल अर्थात् ध्वनि मिलता है।^{७८}

भुस

गेहूँ, जौ आदि का टुकड़े-टुकड़े किया हुआ डण्ठल जो पशुओं को खिलाया जाता है वह भूसा है। भूसा के अर्थ का वाचक भुस देश्य शब्द भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम उपलब्ध है।^{७९} स्थानांग में बुस शब्द भी भूसा के

२० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

अर्थ में ही प्रयुक्त है।^{६०} गउडवहो^{६१} में फलरहित धान्य के लिए बूस शब्द का प्रयोग मिलता है। देशीनाममाला^{६२} में जौ आदि के कडंगर, भूसा अर्थ में बूसिया का प्रयोग हुआ है।

हल्ला

हिन्दी में हल्ला शब्द शोरगुल, ललकार, धावा, हमला, अनेक आदमियों की बात-चीत अर्थ वाचक है।^{६३} यह शब्द सर्वप्रथम भगवतीसूत्र में प्राप्त होता है।^{६४}

झोड

जोर से हिलाना, झकझोरना, अर्थ में हिन्दी में झोरना शब्द का प्रयोग किया जाता है। ज्ञातार्थ कथा में इसी अर्थ में प्रयुक्त झोड, झोर शब्द का आधार होगा। ज्ञातार्थकथा^{६५} में झोड शब्द का अर्थ पेड़ से पत्र आदि का गिरना दिया गया है।

हेट्ट

हेट्ट विशेषण कम, नीचा, हीन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस हेट्ट का उपजीव्य सूत्रकृताङ्ग^{६६} में प्राप्त हेट्ट है। यह शब्द ज्ञातार्थकथा^{६७} में भी पाया जाता है।

हिन्दी के प्रख्यात् समालोचक आदरणीय प्रो० नामवर सिंह^{६८} का यह कथन अत्यन्त प्रासङ्गिक है- 'श्रमण संस्कृति की सांस्कृतिक विरासत की विविधता और बहुलता पर ही हमें ध्यान देना चाहिए। इसी से पूरी भारतीय संस्कृति के व्यापक स्वरूप व इतिहास को समझा जा सकेगा। तभी हम प्राकृत वाङ्मय की विविधता और बहुलता को सुरक्षित रख सकेंगे।' इसी प्रसङ्ग में संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी^{६९} का भी कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है- 'अगर भारतीयों को इसकी सांस्कृतिक विविधता को समझना है तो हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का निरन्तर अनुशीलन करना पड़ेगा। प्राकृत साहित्य, प्राकृत वाङ्मय, प्राकृत परम्परा और वह परम्परा जो उतरती है अपभ्रंशों से, आधुनिक भाषाओं का द्रविड़ भारतीय भाषाओं से क्या सम्बन्ध है इसको समझना होगा।

सन्दर्भ सूची

१. तए णं समणे भगवं महावीरे अद्धामागहाए भासाए भासइ, औपपातिकसूत्र ५९
२. डॉ० के० आर० चन्द्र, भारतीय भाषाओं के विकास और साहित्य की समृद्धि में श्रमणों का महत्त्वपूर्ण योगदान, प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद १९७९, पृ० ६-७
३. सिद्ध-साध्यमान-भेद-संस्कृत-योनेरेव, तस्य लक्षणं न देशस्य इति

- ज्ञापनार्थम् । ८/१/१ (प्राकृत व्याकरणम्, आचार्य हेमचन्द्र, व्याख्या ज्ञानमुनि, आचार्य श्री आत्माराम जैन माडल स्कूल, देहली- १९७४, प्रथम खण्ड, अध्याय ८, पाद १, सूत्र १ की स्वोपज्ञवृत्ति
४. पाइअ सदमहण्णवो, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, पृ० २२२
५. वी० एस० आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २४६
६. वही, पृ० २३५
७. आगमसुत्ताणि (स्थानाङ्गसूत्र) सटीक, भाग ३, पृ० ३११
८. डेपकूपे प्रतिबिम्बं मरुकूप सदृशमती वोण्डं कूपं दृष्ट्वेत्यर्थः— ४/३ व्यवहारभाष्य-टीका, वकील केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद १९२६, पृ० ९
९. 'भासुर बोंदी'- आचाराङ्गचूला, अङ्गसुत्ताणि भाग १, सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, १९७४, १५/९
१०. सूत्रकृताङ्ग, अङ्गसुत्ताणि, भाग १, श्रुतस्कन्ध २, अध्याय २, सूत्र ६९, ७३
११. व्याख्याप्रज्ञप्ति, वही, भाग २, शतक उद्देशक २, सूत्र ४
१२. बोंदि विसेणं विस परिणयं - स्थानाङ्गसूत्र, अङ्गसूत्ताणि भाग १, स्थान ४, उद्देशक ४, सूत्र ५१४ एवं णव सोत परिस्सवा बोंदि पण्णत्ता, स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १ सूत्र २४, वही, सूत्र ७३
१३. जीतकल्प विषमपद व्याख्या, पृ० ३४, द्रष्टव्य- देशी शब्द कोश, जैन विश्वभारती लाडनूँ, पृ० ३७१
१४. अङ्गविज्जा, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी १९५७, पृ० १६८
१५. भगवतीसूत्र, २३/२,४
१६. होले ति वा गोले ति वा— आचाराङ्गचूला, ५/१२/५
१७. पाइअसदमहण्णवो, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, पृ ३०२
१८. वही, पृ० ३२०
१९. अभिधम्मपिटक, १०८८, महावंश, १७५
२०. आचाराङ्गसूत्र, ४/२९
२१. चंगेडा, अपभ्रंश हिन्दी कोश, डॉ० नरेश कुमार, इण्डो-विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, १९८७, भाग १, पृ० ३३३
२२. प्राकृतव्याकरण, ८/१/१०
२३. दोगि-चंगेरि-खील- प्रश्नव्याकरणसूत्र १/८
२४. चाउल वा पलम्बंवा, आचाराङ्गसूत्र, १/६,७
२५. पउम चरिउ, २६/१२/६

२२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

२६. देशीनाममाला, आचार्य हेमचन्द्र, ३/८
२७. अपभ्रंश-हिन्दी कोश, पृ० ३५२
२८. वही, पृ० ५२
२९. बहुसंभूया वणफला, पक्कातिवा टाला तिवा ॥, आचारांगचूला, ५/३१
३०. पणग-दग-मट्टिय....., आचारांगचूला ७/४०
३१. पाइयसद्महण्णवो, पृ० ६६८
३२. प्राकृत अपभ्रंश कोश, भाग २, पृ० ८२७
३३. बृहत् हिन्दी कोश, सम्पा० कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, अष्टम पुनर्मुद्रित संस्करण २०१०, पृ० ८८६
३४. थंभंसि वा, मंचंसि वा, मालंसि वा, आचारांगसूत्र, १/८७, २/१८
३५. समवायांगसूत्र, प्रकीर्णक २४१
३६. देशीनाममाला, आचार्य हेमचन्द्र, ६/१४६
३७. वही, ६/१४६
३८. महावंश, ८६, १०३, १९८, १९९
३९. पाइअसद्महण्णवो, द्रष्टव्य माल देश्य, पृ० ६८६
४०. महद्धणमोल्लाई, आचारांगसूत्र, ५/१४
४१. पाइअसद्महण्णवो, पृ० ६९५
४२. अपभ्रंश हिन्दी कोश, भाग २, पृ० ८६६, ८७३
४३. कुरंते सजीवमच्छे व अयो-कवल्ले, सूत्रकृताङ्गसूत्र, १/५/५
४४. जम्बूचरिउ, २/२०/५ एवं पउमचरिउ, २०/१०/७
४५. जइ आणेज्ज पं बंधिता घरं, सूत्रकृताङ्गसूत्र, १/२/१८
४६. आगम शब्दकोश, सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, १९८०, पृ० २७२
४७. जसहरचरिउ, १/१/३
४८. आचारांगचूला, २/४६/, ३/२४, ७/३, २४
४९. सूत्रकृताङ्ग, २/२/२५, ३०
५०. पाइअसद्महण्णवो, पृ० ३२७
५१. आचारांगसूत्र, २/११/१८, २/१२/१५
५२. डहरा बुड्ढाय पत्थए, सूत्रकृताङ्ग, १/२/२, १६, १/४/७
५३. अन्तकृद्दशा, ६/५५, ५६
५४. अपभ्रंश-हिन्दी कोश, पृ० ४४७

५५. देशीनाममाला, ४/८
५६. आगम शब्द कोश, सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ
१९८०, पृ० २१२
५७. महावंस, ५७, २१७
५८. दीघनिकाय, ३७२
५९. अपभ्रंश हिन्दी कोश, भाग १, पृ० २१०
६०. वही, पृ० २१०
६१. पावकर मइल मइ- समवायांगसूत्र, प्रकीर्णक ९०, अंगसुत्ताणि १,
सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती लाडनूँ १९७४, पृ० ९१२
६२. अपभ्रंश हिन्दी कोश, भाग २, पृ० ८२१-८२२
६३. मइलो कलकलो गततेजाश्च- वृत्ति देशीनाममाला, आचार्य हेमचन्द्र,
६/१४२
६४. कट्टेण वा किलिंचेण वा— भगवतीसूत्र, ८/२२३, अंगसुत्ताणि, भाग
२, सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती लाडनूँ १९७४, पृ०
३१९
६५. कालिंजं तथा किलिचं लघुदारु-२, देशीनाममाला स्वोपज्ञवृत्ति,
आचार्य हेमचन्द्र, सम्पा० मुरलीधर बनर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय
१९३१, पृ० ६०
६६. गोड्डे पाणियुगले- १८/१०७, भगवतीसूत्र, अंगसुत्ताणि, भाग २,
लाडनूँ १९७४
६७. अपभ्रंश-हिन्दीकोश, भाग ९, पृ० ३१५
६८. परिहेत्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव
चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ ३/११२ भगवतीसूत्र, अंगसुत्ताणि
भाग २
६९. पाइअसद्महण्णवो, पृ० ३३२
७०. पिरिपरिय सद्दाणि, पोया सद्दाणि, आचाराङ्गचूला, ५/६४
७१. पाइअसद्महण्णवो, पृ० ६१५
७२. अपभ्रंश हिन्दीकोश, भाग २, पृ० ७५३
७३. अवर्णो य श्रुतिः, ८-१/१८०, प्राकृतव्याकरण
७४. बृहत् हिन्दीकोश, सम्पा० कालिकाप्रसाद, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, लंका
वाराणसी १३९१ (पुनर्मु० सं०) २०१०
७५. उक्किट्टसीहनाय-बोल-कलकल खेण, २/३०, ३/२५८

२४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

- भगवतीसूत्र, अंगसुत्ताणि, भाग २
७६. पाइअ-सद्महण्णवो, पृ० ६३९
७७. अपभ्रंश हिन्दीकोश, भाग २, पृ० ७८४
७८. तुमुले घमाल, बोला य, देशीनाममाला, ६/९०
७९. इंगाले, हारिए, भुसे, गोमए, ५/५४, भगवतीसूत्र, अंगसुत्ताणि-
भाग २
८०. पाइअसद्महण्णवो, पृ० ६३८
८१. वही, पृ० ६३८
८२. देशीनाममाला, ४५३
८३. बृहत् हिन्दी कोश, पृ० १३१९
८४. किंसठिया णं हल्ला पण्णत्ता? १५/१३२ भगवतीसूत्र
८५. रुक्खा जुण्णा झोडा,— १/११/२,४,६
ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अंगसुत्ताणि, भाग ३
८६. सहास्सिए उद्धस्सिए हेट्टु सहस्समेगं, सूत्रकृतांगसूत्र, १/६/११०
८७. जहा हेट्टा जाव, ज्ञाताधर्मकथा, १/१६/२९८
८८. डॉ० नामवर सिंह, प्राकृत की सांस्कृतिक विरासत, प्राकृत साहित्य
और भारतीय परम्पराएँ, प्रधान सम्पा० आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली २०१०, प्रस्तावना, पृ० २५
८९. प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी, प्राकृत की सांस्कृतिक विरासत, प्राकृत साहित्य
और भारतीय परम्पराएँ, प्रधान सम्पा० आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली २०१०, प्रस्तावना, पृ० २३

आगमों में प्रतिपादित षड्जीव-अहिंसा विषयक अवधारणा

डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव

इस शोधालेख में प्राचीन आगमों के अनुसार षड्जीवनिकाय-अहिंसा के माध्यम से पर्यावरण-संरक्षण और उसके संतुलन में जैन योगदान को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक एवं स्थावर जीवों की मानसिक, वाचिक एवं कायिक हिंसा का तीनों करणों (कृत, कारित एवं अनुमोदित) से त्याग करने पर पर्यावरण की रक्षा पूर्णरूपेण स्वयमेव हो जाती है। विभिन्न वृक्षों एवं पशुओं को तीर्थङ्करों से सम्बद्ध करने के पीछे उनकी महत्ता एवं उनके संरक्षण की दृष्टि परिलक्षित होती है। - सम्पादक

जैनधर्म निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का धर्म है। सामान्यतया इसे सामाजिक न मानकर व्यक्तिवादी धर्म माना जाता है किन्तु जैनधर्म को एकान्त रूप से व्यक्तिवादी धर्म नहीं कहा जा सकता है। यह सत्य है कि उसका विकास निवृत्तिमार्गी संन्यास प्रधान श्रमण-परम्परा से ही हुआ है किन्तु मात्र इस आधार पर उसे समाज-सापेक्ष या व्यक्तिवादी धर्म मानना एक भ्रान्ति ही होगी। जीवन में दुःख की यथार्थता और दुःख-मुक्ति का जीवन आदर्श, यह जैन परम्परा का अथ और इति है। किन्तु दुःख और दुःख-मुक्ति के ये सम्प्रत्यय मात्र वैयक्तिक नहीं हैं, उनका एक सामाजिक पक्ष भी है। दुःख-मुक्ति का उनका आदर्श मात्र वैयक्तिक दुःखों से मुक्ति नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्राणी जगत् के दुःखों की विमुक्ति है और यही उन्हें समाज से जोड़ देता है। श्रमणधारा में धर्म और नीति को अवियोज्य माना गया है और धर्म तथा नीति की यह अवियोज्यता भी उसमें सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर देती है।

जैन वाङ्मय पर यदि हम अपनी दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जैनधर्म इस भूलोक में रहकर ही निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और अपरिग्रह पर सर्वाधिक बल दिया गया है। उसके इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के आलोक में जैनधर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिए आवश्यक है। जैनधर्म के प्रवर्तक आचार्यों ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणीय जगत् एवं वनस्पति जगत् में जीवन की उपस्थिति है, अपितु उन्होंने यह

भी कहा था कि पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि में भी जीवन है^१। एक ओर तो वे यह मानते थे कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं, अतः इनके दुरुपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है^२। दूसरे ये स्वयं भी जीवन हैं क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। क्या हम जल, वायु, पृथ्वीतत्त्व एवं ऊर्जा (अग्नितत्त्व)के अभाव में जीवन की कल्पना भी कर सकते हैं ? ये तो स्वयं जीवन के अधिष्ठान हैं। अतः इनका दुरुपयोग या विनाश स्वयं जीवन का ही विनाश है। इसलिए जैनधर्म में उसे हिंसा या पाप कहा गया है। हिन्दूधर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जो देवरूप माना गया है उनका आधार भी इनका जीवन का अधिष्ठान रूप होना ही है। जैन परम्परा में भगवान् महावीर से पूर्व भगवान् पार्श्व के काल में भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की अवधारणा उपस्थित थी। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक— ऐसे षड्जीवनिकायों की चर्चा प्राचीन जैन आगमों का प्रमुख विषय रहा है।

आचारांगसूत्र (ई.पू. ५वीं शती) का तो प्रारम्भ ही इन षड्जीव निकायों के निरूपण से तथा उनकी हिंसा के कारणों एवं उनकी हिंसा से बचने के निर्देशों की चर्चा से होता है^३। इन षड्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से आज सर्वाधिक मूल्यवान बन गए हैं।

जब हम जैन आगमों पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि सम्पूर्ण जैन आगम ग्रन्थ एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रियों जीवों के संरक्षण और सुरक्षा के लिए संकल्पित परिलक्षित होती है। जब हम आचारांगसूत्र का अवलोकन करते हैं तो हम देखते हैं कि आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम ही शस्त्रपरिज्ञा है। शस्त्र का अर्थ है 'हिंसा के उपकरण या साधन'। जो जिसके लिए विनाशक या मारक होता है वह उसके लिए शस्त्र है^४। चाकू, तलवार आदि हिंसा के बाह्य साधन, द्रव्य शस्त्र हैं। राग-द्वेष युक्त कलुषित परिणाम भाव-शस्त्र है। परिज्ञा का अर्थ है ज्ञान अथवा चेतना। इस शब्द से दो अर्थ ध्वनित होते हैं— ज्ञ-परिज्ञा द्वारा वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा द्वारा हिंसादि के हेतुओं का त्याग। हिंसा की निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का मुख्य आधार है आत्मा। आत्मा का ज्ञान होने पर अहिंसा में आस्था दृढ़ होती है तथा अहिंसा का सम्यक् पालन किया जा सकता है। अब हम क्रम से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रस-काय-हिंसा निषेध की चर्चा विस्तार से करेंगे।

पृथ्वीकायिक जीवों के बारे में आचारांग में कहा गया है— 'पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीर में आश्रित रहते हैं अर्थात् वे प्रत्येक-शरीरी होते हैं'। पुनः भगवान् महावीर कहते हैं कोई व्यक्ति इस जीवन के लिए प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए जन्म, मरण तथा मुक्ति के लिए एवं दुःख का प्रतीकार करने के लिए स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है वह (हिंसावृत्ति) उसके अहित के लिए होती है। वह उसकी त्रिबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि की अनुपलब्धि में कारणभूत होती है'। पृथ्वीकायिक जीवों के हिंसा के बारे में आगे कहा है, "वह साधक (संयमी) हिंसा के दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझता हुआ, आदानीय-संयम साधना में तत्पर हो जाता है। कुछ मनुष्यों को भगवान् या अनगार मुनियों के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात होता है कि यह जीव-हिंसा ग्रन्थि है, यह मोक्ष है, यह मृत्यु है और यही नरक है"। भगवान् महावीर को वनस्पतिकाय जीवों की पीड़ा का पूर्ण अनुभव था। वे तो सदैव कहा करते थे जैसे हमें पीड़ा या कष्ट अनुभव होता है वैसे ही सभी ऐन्द्रिक जीवों को होती है। उन्होंने कहा है, "जैसे कोई किसी जन्मान्ध व्यक्ति को (मूसल, भाला आदि से) भेदे, चोट करे या तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीड़ा की अनुभूति होती है वैसे ही पीड़ा पृथ्वीकाय जीवों को होती है"। जैसे कोई किसी को गहरी चोट मारकर मूर्च्छित करे या प्राण-वियोजन ही कर दे, उसे जैसी कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना समझनी चाहिए।" उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के मन में पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति असीम दया थी।

अप्काय को सजीव सचेतन मानना जैन दर्शन की मौलिक मान्यता है। भगवान् महावीरकालीन अन्य दार्शनिक जल को सजीव नहीं मानते थे, किन्तु उसमें आश्रित अन्य जीवों की सत्ता स्वीकार करते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में 'वर्षा' को जल का गर्भ माना जाता है और जल को प्रजनन शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रजनन क्षमता सचेतन में ही होती है, अतः सचेतन की धारणा का प्रभाव वैदिक चिन्तन पर पड़ा है ऐसा माना जा सकता है'। किन्तु मूलतः अनगार दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक जल को सचेतन नहीं मानते थे। अनागार में जल के तीन प्रकार बताये गए हैं— १. सचित-जीव सहित, २. अचित-निर्जीव और ३. सजीव-निर्जीव मिश्रित जल। जैन दर्शन केवल अचित् जल को स्वीकार करने पर बल देता है। आचारांग में कहा गया है— बुद्धिमान मनुष्य यह जानकर स्वयं जलकाय का समारंभ न करें, दूसरों से न करवायें और उसका

२८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करें^{१०}। पुनः कहा है जिसको जल सम्बन्धी समारम्भ का ज्ञान होता है, वही परिज्ञात कर्मा (मुनि) होता है^{११}।

जलकाय जीवों की हिंसा को 'अदत्तादान' कहने के पीछे एक विशेष कारण है। तत्कालीन परिव्राजक आदि कुछ संन्यासी जल को सजीव तो नहीं मानते थे परन्तु अदत्त जल का प्रयोग नहीं करते थे। जलाशय आदि के स्वामी की अनुमति लेकर जल का उपयोग करने में वे दोष नहीं मानते थे। अतः जल के जीवों का प्राण-हरण करना हिंसा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी भी जीव की हिंसा, हिंसा के साथ-साथ अदत्तादान भी है। अहिंसा के सम्बन्ध में यह बहुत ही सूक्ष्म एवं तर्कपूर्ण चिन्तन है।

जैनधर्म अग्निकायिक जीवों के प्रति भी अपनी अहिंसक दृष्टि रखते हैं। आचारांग में कहा है— वह (जिज्ञासु साधक) कभी भी स्वयं लोक (अग्निकाय) के अस्तित्व का अर्थात् उसकी सजीवता का अपलाप (निषेध) न करे। वह अपने आत्मा के अस्तित्व का अपलाप न करे क्योंकि जो लोक (अग्निकाय) का अपलाप करता है, वह अपने आप का अपलाप करता है। जो अपने आप का अपलाप करता है वह लोक का अपलाप करता है^{१२}।

जो दीर्घलोक शस्त्र (अग्निकाय) के स्वरूप को जानता है वह अशस्त्र (संयम) का स्वरूप भी जानता है। जो संयम का स्वरूप जानता है वह दीर्घलोक शस्त्र का स्वरूप भी जानता है। इसी क्रम में भगवान् महावीर ने अग्निकायिक जीव-हिंसा-निषेध पर भी विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने कहा है जो अग्निकाय जीवों पर शस्त्र प्रयोग करता है, वह इन आरम्भ-समारंभ क्रियाओं के कटु परिणामों से अपरिज्ञात होता है, अर्थात् वह हिंसा के दुःखद परिणामों से छूट नहीं सकता है। जो अग्निकाय पर शस्त्र-समारंभ नहीं करता है, वास्तव में वह आरम्भ का ज्ञाता अर्थात् हिंसा से मुक्त हो जाता है^{१३} तथा जिसने यह अग्नि-कर्म-समारम्भ भली प्रकार समझ लिया है, वही मुनि है, वही परिज्ञात कर्मा (कर्म का ज्ञाता और त्यागी) है^{१४}। इस प्रकार अग्निकाय-जीवों पर सम्यक् अहिंसक दृष्टि जैनधर्म में उपलब्ध होती है।

जैनधर्म में वनस्पतिकाय जीवों पर भी अहिंसक दृष्टि प्रस्तुत की गयी है एवं इनके संरक्षण की बात कही गयी है। भगवान् महावीर ने कहा है कि इस जीवन के लिए प्रशंसा, सम्मान, पूजा, जन्म-मरण, मुक्ति और दुःख का प्रतिकार करने के लिए वह (तथाकथित साधु) वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है, यह उसके अहित के लिए होता

है, यह उसकी अबोधि के लिए होता है^{१५}। पुनः भगवान् महावीर ने कहा है— यह समझता हुआ साधक संयम में स्थिर हो जाए। भगवान् से या त्यागी अनागारों के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है— यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है^{१६}। पुनः भगवान् महावीर ने कहा है— यह जानकर मेधावी स्वयं वनस्पति-हिंसा का अनुमोदन न करें न दूसरों से समारंभ करवाएँ और न समारंभ करवाने वालों का अनुमोदन करें^{१७}। फिर भी मनुष्य इसमें आसक्त हुआ, नानाप्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का समारंभ करता है और वनस्पतिकाय का समारंभ करता हुआ अन्य प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है। जैनधर्म में इस तरह की हिंसा का पूर्ण त्याग बतलाया गया है।

जैन आचार्यों की पर्यावरण के प्रति विशेष रूप से वनस्पति जगत् के प्रति कितनी सजगता रही है, इसका पता इस तथ्य से चलता है कि उन्होंने प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ चैत्य-वृक्ष को जोड़ दिया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गये। समवायांगसूत्र के अनुसार तीर्थङ्करों के चैत्य-वृक्ष की सूची इस प्रकार है^{१८}—

१. ऋषभदेव- न्यग्रोध (वट)
२. अजितनाथ- सप्तपर्ण
३. सम्भवनाथ- शाल
४. अभिनन्दननाथ- प्रियाल
५. सुमतिनाथ- प्रियंगु
६. पद्मप्रभ- छत्राह
७. सुपार्श्व- शिरीष
८. चन्द्रप्रभ- नागवृक्ष
९. पुष्पदन्त- साली
१०. शीतलनाथ- पिलंखुवृक्ष
११. श्रेयांसनाथ- तिन्दुक
१२. वासुपूज्यनाथ- पाटल
१३. विमलनाथ- जम्बू
१४. अनन्तनाथ- अश्वत्थ (पीपल)
१५. धर्मनाथ- दधिपर्ण
१६. शान्तिनाथ- नन्दीवृक्ष
१७. कुन्थुनाथ- तिलक

३० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

१८. अरनाथ- आम्रवृक्ष
१९. मल्लीनाथ (मल्लिनाथ)- अशोक
२०. मुनिसुव्रतनाथ- चम्पक
२१. नमिनाथ- बकुल
२२. नेमिनाथ- वेत्रसवृक्ष
२३. पार्श्वनाथ- धातकीवृक्ष
२४. महावीर (वर्द्धमान)- शालवृक्ष

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जैनपरम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थङ्कर ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपना उपदेश देते थे इससे भी उनकी प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजगता प्रकट होती है। अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर उपदेश देने का निहितार्थ यही होगा कि इससे वृक्षों के प्रति जनमानस की श्रद्धा बढ़े जिससे वे इन वृक्षों को संरक्षित करने के लिए प्रयासरत हों। यह मानव प्रकृति है कि जिस वस्तु को हम अपनी आस्था से जोड़ लेते हैं उसके लिए हम अच्छा ही सोचते हैं। कहीं न कहीं तीर्थङ्करों ने जनमानस की इन भावनाओं को समझा और उनका यह प्रकृति-प्रेम, प्रकृति-संरक्षण के रूप में विकसित हुआ। निश्चित रूप से उस समय ऐसी परिस्थितियाँ रही होंगी कि लोग वृक्षों, वनों के प्रति निर्मम रहे हों जिसके फलस्वरूप वनों एवं वृक्षों के संरक्षण के लिए जैनधर्म में प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ चैत्य-वृक्षों को जोड़ दिया गया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गये। प्राचीनकाल में जैनमुनियों को वनों में ही रहने का निर्देश था। फलतः वे प्रकृति के अत्यधिक निकट होते थे। कालान्तर में जब कुछ जैनमुनि चैत्यों या बस्तियों में रहने लगे तब इनके दो विभाग हो गये—

१. चैत्यवासी
२. वनवासी।

किन्तु इसमें भी चैत्यवासी की अपेक्षा वनवासी मुनि ही अधिक आदरणीय बने। जैन परम्परा में वनवास को सदैव ही आदर की दृष्टि से देखा गया। भारत के सभी दार्शनिकों ने प्रायः वनस्पति को सचेतन माना है किन्तु वनस्पति में ज्ञान-चेतना अल्प होने के कारण उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों ने कोई विशेष चिन्तन-मनन नहीं किया। जैन-दर्शन में वनस्पति के विषय में बहुत सूक्ष्म एवं व्यापक चिन्तन किया गया है। मानव-शरीर के साथ जो इसकी तुलना की गई है, वह आज के वैज्ञानिकों के लिए आश्चर्यजनक व उपयोगी तथ्य है। जब सर जगदीश चन्द्र बोस ने वनस्पति में मानव के समान ही चेतना की वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्धि कर

बताई थी तब से जैन दर्शन का वनस्पति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

उपरोक्त दृष्टिकोण को ही ध्यान में रखकर जैन तीर्थङ्करों ने समवसरण सभा की परिकल्पना की है जो कि अर्हत् भगवान् की उपदेश देने की सभा का नाम है। इस सभा में तिर्यञ्च, मनुष्य व देव, पुरुष तथा स्त्रियाँ सब वहाँ पर बैठकर भगवान् के उपदेश को सुनते हैं। इस सभा की रचना विशेष प्रकार से देवतालोग करते हैं। इसकी प्रथम सात भूमियाँ बड़ी आकर्षक हैं, यथा— पुष्पवाटिकाएँ, नाट्यशालाएँ, वापियाँ, चैत्यवृक्ष इत्यादि। मिथ्या दृष्टि अभव्य जीव इसी को देखने में उलझ जाते हैं अर्थात् यहाँ पर पुष्पवाटिकाएँ, चैत्यवृक्ष आदि के मनोरम दृश्य के प्रति अभव्य जीवों की उनमें आसक्ति के कारण पर्यावरण (वृक्ष इत्यादि) की रक्षा की परिकल्पना जागृत होती है। अत्यन्त श्रद्धालु एवं भावुक व्यक्ति अष्टमभूमि में प्रवेश करके भगवान् के दर्शन पाते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में वर्णित है, 'इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्य ध्वनि के अवसर की प्रतिक्षा करते हुए बैठते हैं इसीलिए जानकार गणधरादि देवों ने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है।'^{१९} वहीं पर वर्णित है कि वहाँ पर जिन भगवान् के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामबाधा तथा तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीड़ाएँ नहीं होती हैं।^{२०} अर्थात् यहाँ पर यह दर्शाने का प्रयास किया जा रहा है कि इस स्थान पर वैर, तृष्णा आदि के समाप्त हो जाने से सब जीवों का सब जीवों के प्रति समभाव का उदय होता है जिससे वे मैत्री-भावना के साथ रहते हुए अहिंसा के पथ पर अग्रसर होते हैं, जहाँ पर विश्वबन्धुत्व की भावना दृष्टिगोचर होती है। समवसरण की परिकल्पना मुख्यतः सभी जीवों में अहिंसा की भावना को उत्पन्न करना है जिस कारण सभी जीव (पशु-पक्षी, मानव, देव इत्यादि) एक ही जगह पर एकत्रित होकर जिनवाणी का श्रवण करते हैं जो अहिंसा की महत्ता को दर्शाता है।

जैनदर्शन में उपर्युक्त पञ्चकाय जीवों की अहिंसा के अतिरिक्त त्रस एवं स्थावर जीवों के प्रति भी अहिंसक दृष्टि का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जैनधर्म प्रारम्भ से ही अहिंसक धर्म रहा है। इसमें पशु-पक्षी इत्यादि को पूज्य के रूप में स्वीकार कर इनकी रक्षा करने का प्रसंग आता है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण राजा अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के विवाह के प्रसंग में देखने को मिलता है। अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) ने विवाह केवल इस कारण से नहीं किया कि उनके बारात में आये यदुवंशी राजा और राजकुमारों के स्वागत-सत्कार में इन पशुओं का वध किया जाएगा और इनके मांस से राजाओं के भोजन की सामग्रियाँ तैयार होंगी।

३२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

अरिष्टनेमि से उनके सारथी ने कहा— ये सभी भद्र प्राणी आपके विवाह कार्य में आये हुए बहुत से लोगों (मांसभोजियों) को खिलाने के लिए पकड़े गए हैं।^{१९} इन शब्दों को सुनकर भगवान् अरिष्टनेमि के मन में पशु-पक्षियों के प्रति अत्यन्त वेदना हुई और वे पशु-पक्षियों को मुक्त कराकर, विवाह करने से इनकार कर निर्ग्रन्थ बनने चल पड़े। ऐसे कई उदाहरण जैनधर्म में मिलते हैं जिनमें तीर्थङ्कर आगे बढ़कर अहिंसा का एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

इसी क्रम में धरणेन्द्र और पद्मावती (नाग-नागिन) का प्रसंग पार्श्वनाथ से जोड़कर देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि कमठ के उपसर्गों से धरणेन्द्र और पद्मावती ने पार्श्वनाथ को बचाया और उनके केवल ज्ञानप्राप्ति के साधन बने। भगवान् पार्श्व का कमठ (महिपाल) से नाग-नागिन को बचाने की गुहार करना उनके जीव-जन्तुओं प्रति अहिंसकवृत्ति को दर्शाता है। जैनधर्म में यत्र-तत्र जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए तीर्थङ्करों के साथ उन्हें रखा जाता है। जैन तीर्थङ्कर प्रतिमाओं को एक दूसरे से पृथक् करने के लिए जिन प्रतीक चिह्नों (साधनों) का प्रयोग किया जाता है उनमें भी वन्य जीवों को ही प्राथमिकता मिली है, यथा—

तीर्थङ्कर

लाञ्छन

क्षण

ऋषभदेव

बैल (वृषभ)

अजितनाथ

गज

सम्भवनाथ

अश्व

अभिनन्दननाथ

कपि

पद्मप्रभ

कमल

सुमतिनाथ

क्रौंच

पुष्पदन्तनाथ

मकर

श्रेयान्सनाथ

गेंडा

वासुपूज्य

महिष

विमलनाथ

वराह

अनन्तनाथ

श्येनपक्षी

शान्तिनाथ

मृग

कुंथुनाथ

छाग

अल्हनाथ (अरनाथ)

मतत्स्य

सुव्रतनाथ

कूर्म

पार्श्वनाथ

सर्प

महावीर

सिंह

इन लाञ्छनों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैनधर्म पशु-पक्षियों के लिए कितनी श्रद्धा का भाव रखता है। लाञ्छनों के रूप में पशु-पक्षियों को रखने का कारण इनके संरक्षण की भावना को विकसित करना है।

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन-धर्म-दर्शन में उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणियों के संरक्षण की परिकल्पना जैन-धर्म-दर्शन में दृष्टिगोचर होती है। स्वयं महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि उन्होंने अहिंसा का पाठ जैन दर्शन से ही सीखा है। अहिंसा का जितना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप जैनधर्म में दृष्टिगत होता है अन्यत्र कहीं नहीं।

सन्दर्भ सूची

१. तं परिण्णाय मेहावी णेव संय छज्जीव-णिकायं-सत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभते समणुजाणेज्जा। १.१७६- आयारो, प्रमुख वाचनाकार, आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज०), १९७४
२. से बेमि.....संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा — वही, १/५४
३. आचारांगसूत्र - प्रथम अध्ययन, पिण्डैषणा, मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज०), १९८०
४. जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सत्थं भण्णति। निशीथचूर्णि ३०१, द्रष्टव्य अभिधानराजेन्द्र, भाग ७, पृ० ३३
५. संति पाणा पुढो सिआ आचाराङ्गसूत्र, १/१/२/११
६. वही, सूत्र, १/१/२/१३
७. वही, सूत्र, १/१/२/१४
८. वही, सूत्र, १/१/२/१५
९. श्री पुष्कर मुनि, अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०- ३४६
१०. तं परिण्णाय मेहावी णेव संय उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारंभते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा। आचारांगसूत्र, १/१/३/३०
११. जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाय भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे ति बेमि। वही, सूत्र १/१/३/३१

३४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

१२. णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।
जे लोगं अभाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति जे लोगं अब्भाइक्खति।
आचारांगसूत्र, सूत्र १/१/४/३२
१३. एत्थ सत्थं सभारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।
एत्थ सत्थं असभारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति—
वही, सूत्र १/१/४/३२
१४. जस्स एते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी
परिण्णायकम्मे ति बेमि— वही, सूत्र १/१/४/३९
१५. इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाती-मरण-मोयणाए
दुक्खपडिघातहेतु से सयमेव वणस्सतिसत्थं सभारंभति, अण्णेहिं वा
वणस्सतिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे
समणुजाणति। तं से अहियाए, तं से अबोहीए— वही, सूत्र १/१/५/
४३
१६. एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।
वही, सूत्र १/१/५/४४
१७. तं परिण्णाए मेहावी णेव सयं वणस्सतिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं
वणस्सतिसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे वणस्सतिसत्थं समारंभते
समणुजाणेज्जा— वही, सूत्र १/१/५/४७
१८. समवायांगसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, परिशिष्ट ६४६, आगम प्रकाशन
समिति, ब्यावर (राज०), १९८२
१९. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९२,
पृ० ३२९
२०. वही, पृ० ३३०
२१. अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुं जणं।।
उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय २२, सूत्र १७, संपा०- अमर मुनि, आत्म-
ज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब)

अनेकान्तवादप्रवेश प्रतिपादित नित्यत्वानित्यत्ववाद

डॉ० राहुल कुमार सिंह

वस्तु का स्वरूप क्या है? क्या नित्य है? क्या अनित्य है या ध्रौव्य है? जैन दर्शन में स्पष्ट कहा गया है कि जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होगी वही सत् होगी— इसी को आधार बनाकर लेखक ने अपने पत्र में वस्तु के स्वरूप को आचार्य हरिभद्रकृत 'अनेकान्तवादप्रवेश' के सन्दर्भ में मण्डित करने का प्रयास किया है। अन्य दर्शनों में वस्तु की नित्यानित्य सिद्धि अशक्य मानते हैं। उनका आक्षेप है कि जिस तरह एक ही वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्मों का रहना योग्य नहीं है उसी तरह नित्यानित्य स्वरूप भी विरोधी होने से असिद्ध है। जैन दर्शन पर इस तरह के आक्षेप सांख्य, बौद्ध, न्याय आदि दार्शनिकों द्वारा उठाये जाते रहे हैं। विद्वान् लेखक ने इस आलेख में इन समस्याओं का समाधान द्रव्य-पर्याय, प्रमाण तथा कारण-कार्य के आधार पर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

— सम्पादक

जैन दर्शन की मान्यता है कि जो भी वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य— इन तीनों से युक्त होगी वही सत् कही जाएगी।^१ प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य— इन तीनों से युक्त है। प्रत्येक वस्तु में क्षण-क्षण परिणाम होते रहते हैं, किन्तु उसमें रहने वाले द्रव्यत्व की स्थिति ध्रौव्य है, अतः प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक है। वस्तु का यह स्वरूप उसकी अनेकान्तता को दर्शाता है। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी नहीं है, जैसे आकाश-कुसुमा अनन्त धर्मात्मक वस्तु में धर्म उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं, धर्मा द्रव्यरूप से सदा नित्य बना रहता है। प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक युगल पाए जाते हैं। अतः वस्तु केवल अनेक धर्मों का पिण्ड नहीं है, किन्तु परस्पर विरुद्ध से दिखने वाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है। उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को ही स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादित करता है। यद्यपि धर्म का अर्थ सामान्यतः गुण होता है, इसे शक्ति भी कहते हैं, तथापि गुण और धर्म में अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं, जैसे- नित्यत्वानित्यत्व, एकत्वानेकत्व, सत्त्वासत्त्व आदि। जो

शक्ति विरोधाभास से रहित है, निरपेक्ष है उसे गुण कहते हैं, जैसे- आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल में रूप, रस गन्ध आदि।^३ वस्तु में गुण तो सीमित हैं किन्तु धर्म अनन्त हैं। वस्तु के स्वरूप को देखने के लिए उसके निज गुणों के साथ अन्य वस्तुओं से उसमें भिन्नता भी देखनी पड़ती है।

वस्तु का स्वरूप और उसके गुण नित्य हैं, परन्तु पर्याय बदलते रहते हैं। पर्याय का तात्पर्य है वस्तु में होने वाले परिवर्तन का आधार। किसी भी वस्तु में परिणाम होते हैं तो द्रव्य की और उसके स्वरूप की स्थिति वही रहती है। ये आन्तरिक तत्त्व हैं। परिणाम वस्तु की बाह्य स्थिति में परिवर्तन लाते हैं। ये बाह्य रूप ही बदलते रहते हैं। वस्तु के जीवन में आने वाले ये परिणाम अनादिकाल से होते चले आ रहे हैं और अनन्त काल तक चलते रहेंगे। पर्याय की दृष्टि से भी वस्तु अनन्त धर्मात्मक है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने गुण और पर्याय को अलग माना है^३, जबकि आचार्य सिद्धसेन का मत है कि गुण और पर्याय सामान्य वस्तु के पारिभाषिक पर्याय हैं^४। पर्याय और गुण शब्द तुल्यार्थक हैं, अतः गुण और पर्याय एक हैं। यहाँ गुण से तात्पर्य है युगपद्भावपर्याय और पर्याय का अर्थ है एक साथ उत्पन्न नहीं होने वाले पर्याय^५। इनकी दृष्टि में यद्यपि गुण और पर्याय कथंचित् अभिन्न हैं तथापि संज्ञा, संख्या, स्वरूप और अर्थक्रिया के भेद से उनमें कथंचित् भेद भी है। दोनों के नाम भिन्न हैं, गुण सीमित होते हैं और पर्याय अनन्त हैं, अतः दोनों में संख्याकृत भेद भी है। गुण युगपत्कालभावि हैं और पर्याय अयुगपत्कालभावि हैं। गुण द्रव्य के सहभावि धर्म हैं और पर्याय द्रव्य के कालभावि धर्म हैं, अतः स्वरूपतः भी दोनों भिन्न हैं। अतः दोनों में कथंचित् भिन्नता भी है।

आचार्य समन्तभद्र का मत है कि प्रत्येक द्रव्य पर्यायों को रखता है, पर्यायें बिना द्रव्य के नहीं होतीं। तब यह बात स्वतः सिद्ध है कि द्रव्य अनेक पर्यायों को रखने से अनेक स्वरूप है।^६ हम यदि द्रव्य को मानें और पर्याय को न मानें, अथवा पर्याय को मानें और द्रव्य को न मानें तो दोनों ही नहीं रहेंगे। इसलिए एक को न मानने से कोई भी नहीं ठहर सकता है। जब कोई तत्त्व ही नहीं रहेगा तो उसका कथन भी असम्भव होगा।^७ केवल द्रव्य ही वस्तु नहीं है, वरन् वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। जैसे समुद्र का एक देश समुद्र भी नहीं है और असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता। पूरे समुद्र को ही समुद्र कहा जा सकता है।

द्रव्य-पर्याय के आधार पर वस्तु की नित्यानित्यता

वस्तु को एकान्तनित्य मानने पर उसमें विकार या परिणाम नहीं हो सकेंगे। विकार नहीं होने से कारक का व्यापार वहाँ नहीं होगा। कारक का व्यापार नहीं होने से

द्रव्य-गुण लक्षण कार्य प्रतिष्ठित नहीं होगा अतः वस्तु को नित्यानित्य मानना उचित है।^६

जैनदर्शन की सामान्य मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। जैसे मिट्टी के घड़े में मिट्टी सदा स्थिर रहती है, अर्थात् इस मिट्टी से किसी भी प्रकार के बर्तन का निर्माण किया जाय, प्रत्येक बर्तन में मिट्टी का अस्तित्व सदैव विद्यमान रहेगा, क्योंकि मिट्टी द्रव्य है। अतः यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। पर्याय रूप से अनित्य होने का कारण उसका स्थिर न रहना, निरन्तर बदलते रहना है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनाते समय मिट्टी अनेक पर्यायों को धारण करती है अर्थात् घड़े में कच्चापन, मोटापन, पक्कापन, चौड़ापन, नयापन, पुरानापन आदि। ये पर्यायरूप परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। एक के नाश के पश्चात् दूसरे पर्याय की उत्पत्ति होती है। इसलिए पर्याय रूप से वस्तु या पदार्थ को अनित्य समझना चाहिए एवं द्रव्य रूप से नित्य। अतः वस्तु को नित्यानित्य स्वरूप जानना चाहिए।

यह एक जैन मान्यता है कि जगत् के चेतनाभाग का निर्माण अनन्तसंख्यक आत्माएँ करती हैं (जिनका सामान्य पारिभाषिक नाम जीव है)। परमाणुओं के सम्बन्ध में भी यह माना गया है कि उनके परस्पर संयोग से जगत् की भौतिक वस्तुओं का जन्म होता है जबकि 'जीव' एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहते हैं। अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि प्रत्येक जीव तथा प्रत्येक परमाणु एक नित्य तत्त्व होते हुए भी प्रतिक्षण रूपान्तर धारण करता रहता है। इन्हीं सब मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए आचार्य हरिभद्र ने नित्यत्वानित्यत्व का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं, "जब सोने के घड़े को नष्ट करके मुकुट बनाया जाता है तब सोना पूर्ववत् स्थिति में बना रहता है और ऐसी अवस्था में यह एक सकारण बात है कि जिस व्यक्ति को सोने के घड़े की आवश्यकता हो वह शोक में पड़ जाय, जिसे मुकुट की आवश्यकता हो वह प्रसन्न हो जाय तथा जिसे सोने की आवश्यकता हो वह अपने मनःस्थिति को पूर्ववत् बनाए रखे"। आशय यह है कि जब एक ही घटना को 'घड़े का नाश', 'मुकुट की उत्पत्ति' और 'सोने का ज्यों का त्यों बना रहना' इन तीनों में देखा जा सकता है तब यही मानना चाहिए कि जगत् की प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, नाश तथा स्थिरता इन तीन रूपों वाली है। इसी प्रकार जिसने दूध पर रहने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही पर रहने का व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस न लेने का व्रत लिया है वह न तो दूध पीता है और न ही दही खाता है^७। इससे सिद्ध होता है कि एक

ही वस्तु का तात्त्विक स्वरूप तीन प्रकार का है तथा गोरस की ही दूध और दही क्रमिक पर्यायों (परिणाम) हैं। आशय यह है कि एक ही घटना 'दूध का नाश', 'दही की उत्पत्ति' और 'गोरस का ज्यों का त्यों बने रहना' इन तीन रूपों में देखी जा सकती है। इससे भी निष्कर्ष यही निकलता है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, नाश तथा स्थिरता इन तीन रूपों वाली है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु विनाशी तथा अविनाशी इन दोनों रूपों वाली तथा द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों रूपों वाली है। जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में 'द्रव्य' एक वस्तु के अविनाशी पहलू का नाम है तथा पर्याय इस वस्तु के विनाशी पहलू का। सूक्ष्म दृष्टि से देखे जाने पर चेतन जीवों तथा भौतिक परमाणुओं को ही द्रव्य कहा जाना चाहिए तथा इसमें प्रत्येक द्रव्य की क्षण-प्रतिक्षण बदलने वाली अवस्थाओं को उस द्रव्य के पर्याय। इससे इतर व्यवहार में दैनंदिन जीवन की स्थूल वस्तुओं का वर्णन भी द्रव्य पर्याय की भाषा में किया जाता है। उदाहरण के लिए जब सोने का घड़ा तोड़कर मुकुट बनाया जाता है तो कहा जाता है कि यहाँ सोना द्रव्य में घड़ा पर्याय का नाश होकर मुकुट पर्याय का जन्म हो गया। इसी तरह जब दूध जमकर दही बन जाता है तो कहा जाता है कि यहाँ गोरस द्रव्य में दूध पर्याय का नाश होकर दही पर्याय का जन्म हो गया। इसी तरह एक युवा व्यक्ति अपने बचपन में किये गए कार्यों पर लज्जित होता है, यद्यपि अब वह बच्चा नहीं है। ठीक ही ये कार्य किसी दूसरे युवा व्यक्ति को लज्जित नहीं करते, क्योंकि ये कार्य इस दूसरे युवाव्यक्ति के बचपन में किये गए कार्य नहीं हैं। इसी तरह एक युवाव्यक्ति अपने वृद्धावस्था के सुविधार्थ कुछ काम करता है यद्यपि वह युवा वृद्ध नहीं है और न ही कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के सुविधार्थ कुछ काम करता है। अतः यह सिद्ध हो गया कि वस्तु अन्वय आदि (अन्वय एवं व्यतिरेक, स्थिरता एवं विनाश) स्वभावों वाली है, अन्यथा इस वस्तु का अस्तित्व ही सम्भव न होगा।

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि जब एक व्यक्ति की बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था को एक दूसरे व्यक्ति की बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था से पृथक् रूप में देखना सम्भव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बाल्यावस्था आदि के बीच, किसी न किसी अर्थ में एक ही बना रहता है। इस प्रकार अन्वय (स्थिरता) एवं व्यतिरेक (नाश) जिन्हें क्रमशः द्रव्य एवं पर्याय भी कहा जाता है अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ रहते हैं, एक ही वस्तु-स्वरूप का निर्माण करते हैं और इस वस्तु में रहते हुए वे (एक विलक्षण प्रकार से) परस्पर भिन्न तथा परस्पर अभिन्न दोनों हैं^{११}। आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि एक

वस्तु का भावरूप पहलू तथा उसका अभावरूप पहलू परस्पर भिन्न भी हैं तथापि वे अनिवार्यतः साथ-साथ भी रहते हैं।

अन्य दार्शनिक वस्तु के नित्यानित्य स्वरूप की सिद्धि अशक्य मानते हैं। उनका आक्षेप है जिस तरह एक ही वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्मों का रहना योग्य नहीं है उसी तरह नित्यानित्य स्वरूप भी विरोधी होने से असिद्ध है^{१२}। प्रतिपक्षी का तर्क है कि स्पष्ट विधि से वस्तु के इस स्वभाव का विरोध है। अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक स्वभाव वाला जो है वह नित्य कहलाता है और स्वभाव से ही एक क्षण अवस्थित रहना जिसका धर्म है वह अनित्य कहलाता है। इस प्रकार इस मान्यतानुसार यदि कोई वस्तु नित्य है तो वह अनित्य नहीं हो सकती और अनित्य है तो नित्य नहीं हो सकती है।

इसी स्थल पर वस्तु की परिणामी नित्यता पर आक्षेप करते हुए कहा गया है कि यदि द्रव्य को कूटस्थनित्यतयानित्य नहीं स्वीकार करके वरन् उसको परिणामी नित्य स्वीकार कर द्रव्य का पर्याय के समान उच्छेद नहीं स्वीकार किया जाय तो यहाँ ऐसी नित्यता सम्भव नहीं है क्योंकि पर्याय से भिन्न द्रव्य असिद्ध है। पर्याय से व्यतिरिक्त द्रव्य की प्राप्ति अनुभव से भी नहीं होती है। इसीलिए कहा भी गया है—“पर्यायभेदिनो नित्यं द्रव्यं स्यात्तत्स्वरूपवत्। स्याद्वादविनिवृत्तिश्च नानात्वे संप्रसज्यते।”^{१३} अर्थात् पर्याय भिन्न हैं और उसके स्वरूप वाला द्रव्य नित्य है तथा नानात्व (द्रव्य-पर्याय भिन्नत्व) से स्याद्वाद की विनिवृत्ति होती है। इसीलिए व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्त पक्ष भी विरोधाघाती होने से अनुद्घोष्य ही है।

ऐसी सभी आपत्तियों के उत्तर में आचार्य हरिभद्र का यही कहना है कि स्थायित्व एवं परिवर्तन का प्रत्येक वस्तु में अनिवार्यतः साथ-साथ रहना एक अनुभव सिद्ध बात है जबकि अकेले स्थायित्व या अकेले परिवर्तन का किसी वस्तु में रहना प्रमाणसिद्ध बात नहीं है। भेद से रहित केवल अभेद कहीं नहीं पाया जाता और न ही अभेद से रहित केवल भेद भी कहीं पाया जाता है। ऐसी दशा में (केवल भेद अथवा केवल अभेद की सत्ता सम्भव मानते हुए) जैन सिद्धान्त पर, जिसके अनुसार भेद तथा अभेद अनिवार्यतः साथ रहते हैं, आपत्तियाँ उठाना कहाँ तक उचित है? उदाहरणार्थ जब प्रतिपक्षी द्वारा पूछा जाता है कि एक वस्तु जिस आकार से भेद रूप वाली है उस आकार से क्या वह भेदरूप वाली ही है अथवा भेद व अभेद दोनों रूपों वाली तो जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर स्वरूप कहते हैं कि “कोई वस्तु केवल भेद रूप वाली अथवा केवल अभेदरूप वाली तो होती ही नहीं और यह वस्तु जैसी है वह तो कहा ही जा चुका है”^{१४} अर्थात् यह वस्तु भेद तथा अभेद दोनों रूपों वाली है यह कहा ही जा चुका है।

प्रमाण के आधार पर वस्तु की नित्यानित्यता

इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि अनेकान्तवाद प्रवेश^{१३} में कहते हैं कि प्रमाण से भी वस्तु का नित्यानित्य स्वरूप ही गम्य है। उदाहरणार्थ- प्रत्यक्ष से वस्तु नित्यानित्य रूप से जानी जाती है। यदि ऐसा न मानें तो वस्तु के ज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, क्योंकि अगर वस्तु को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर, एकस्वभाव एवं सर्वथा नित्य माना जाय तो प्रश्न आता है कि वह वस्तु विज्ञान जनन स्वभाव वाली है कि अजनन स्वभाव वाली है? अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न कर सके ऐसे स्वभाव वाली है कि न उत्पन्न कर सके ऐसे स्वभाव वाली है? यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करें तो सभी को सर्वत्र सर्वकाल से वह ज्ञान होना चाहिए क्योंकि वह एक स्वभाव वाली ही है, किन्तु ऐसा प्राप्त नहीं होता है क्योंकि कुछ स्थान पर किसी को कुछ बार ही उसका ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि देशकालादि विशेष के कारण ऐसा होता है तो वह भी उचित नहीं है क्योंकि जो सर्वथा एक स्वभाव वाला है उसको नया विशेष होने का अवकाश नहीं है। यदि अवकाश हो तो अनित्यत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इसी तरह यदि यह कहा जाय कि ज्ञान को उत्पन्न करने में सहकारी की अपेक्षा है तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जो एकान्त नित्य है उसको किसी भी अपेक्षा का अवकाश ही नहीं है। यहाँ द्रष्टव्य है कि यदि ज्ञान उत्पन्न करने में सहकारी की अपेक्षा को स्वीकार करते हैं तो प्रश्न आता है कि सहकारी उसमें कुछ विशेष उत्पन्न करता है कि नहीं? यदि वह उत्पन्न करता है तो वह अर्थान्तरभूत है या अनर्थान्तरभूत? यदि अर्थान्तरभूत है तो वस्तु को उससे क्या प्राप्त हुआ? यदि माना जाय कि विशेष अर्थान्तरभूत वस्तु का विशेष कारक है तो अनवस्था दोष के कारण यह भी उचित नहीं है। उदाहरणार्थ- जो (मूल विशेषकृत) विशेष है वह वस्तु से भिन्न है या अभिन्न? यह प्रश्न पुनः वैसे के वैसे ही प्राप्त होता है, अतः अनवस्था दोष है^{१४}। तब यदि अर्थान्तरभूत मानें तो प्रश्न आता है कि वह विद्यमान है कि अविद्यमान? यदि विद्यमान है तो कैसे करता है क्योंकि करण मानने पर अनवस्था प्रसङ्ग है। यदि अविद्यमान है तो वह अविद्यमान होने पर भी उससे अर्थान्तरभूत है यह कहना उपयुक्त नहीं है। अनर्थान्तर रूप से विशेष हुआ माना जाय तो वस्तु के अनित्य होने की आपत्ति आयेगी क्योंकि जो पदार्थ है वह ही विशेष हुआ कहलाता है, कारण वह पदार्थ से भिन्न नहीं है। इस दोष से बचने के लिए 'नहीं होता' ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो सहकारी ही व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि वह कुछ भी उपकार नहीं करता। यदि ऐसा कहा जाय कि 'सहकारी है' तो अति प्रसङ्ग की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ-

कुछ भी विशेष न उत्पन्न होने पर भी सहकारी को सहकारी कहो तो सभी पदार्थों का सहकारी मानने का प्रसङ्ग आएगा क्योंकि विशेष न होने से सब पदार्थ समान हैं। इस प्रकार सहकारी की कल्पना ही व्यर्थ है^{१७}।

तत्पश्चात् यदि यह स्वीकार किया जाय कि स्वभावतः एक क्षण स्थिति धर्म वाला एकान्त अनित्य जाना जाता है तो ऐसा मानने पर भी वस्तु द्वारा विज्ञानादि कार्य उत्पन्न न कर सकने के कारण उसका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। जो सर्वथा एक क्षण स्थिति धर्म वाला है, उससे विज्ञानादि उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय वह वस्तु ही नहीं होती। उदाहरणार्थ- जिसका धर्म क्षणमात्र स्थिति स्वभाव वाला है, अर्थात्पत्ति से द्वितीयादि क्षणों में उसकी अस्थिति है, ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि यह न्याययुक्त है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि यह स्थिति और अस्थिति परस्पर अन्य है या अनन्य है? यह समालोचित मान्यता एक बौद्ध मान्यता है।

स्थिति और अस्थिति में परस्पर अन्यत्व माना जाय तो पुनः प्रश्न आता है कि सर्वथा अन्यत्व या कथंचित् अन्यत्व है? यदि सर्वथा मानें तो द्वितीयादि क्षण में भी स्थिति का प्रसङ्ग आएगा क्योंकि अन्य विधि से प्रथम क्षण में स्थिति और द्वितीय क्षण में अस्थिति इस विभिन्नत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है। उदाहरणार्थ- अव्यवहित द्वितीय क्षण में जिसकी अस्थिति होती है ऐसे भाव के एकान्तभिन्न अस्थिति से वर्तमान समयभावी की स्थिति का विरोध नहीं है। इस तरह द्वितीयादि क्षण में जो अस्थिति है उसका स्थिति से अत्यन्त भिन्न होने के कारण, स्थिति से अस्थिति का केवल अविरोध है, ऐसी भावना करनी पड़ेगी। अब यदि कथंचित् अन्यत्व मानें तो यह अनेकान्तवाद के अभीष्ट की अर्थात् नित्यानित्य पक्ष की सिद्धि होती है^{१८}।

तत्पश्चात् यदि स्थिति और अस्थिति में परस्पर अनन्यत्व माना जाय तो यहाँ भी पुनः यही प्रश्न आता है कि सर्वथा या कथंचित्? सर्वथा अनन्यत्व स्वीकार करें तो जिस वस्तु की प्रथम क्षण में स्थिति होगी उसी वस्तु की द्वितीयादि क्षण में अस्थिति होगी। स्थिति भावरूप है इसीलिए उससे द्वितीयादि क्षण में भी स्थिति ही है, अथवा द्वितीयादि क्षण में अस्थिति के निरूपाख्य होने के कारण वह ही प्रथम क्षण स्थिति रूप हुई। अतः प्रथम क्षण में भी (अस्थिति रूप) अभाव का प्रसङ्ग आएगा। यदि कथंचित् अनन्यत्व स्वीकार करें तो पूर्वोक्त दोष आएगा। (अर्थात् अनेकान्तवाद का स्वीकरण होगा।) इसी प्रकार द्वितीयादि क्षण अस्थिति के अभाव रूप होने के कारण प्रथम क्षण स्थिति के आधार पर (भावरूप होने के आधार पर) अन्यानन्यत्व कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं होगी।

कारण-कार्य के आधार पर वस्तु की नित्यानित्यता

अब यदि कहा जाय कि द्वितीयादि क्षण में अस्थिति के परिकल्पित होने से अन्यानन्यत्व रूप में कल्पना नहीं करनी चाहिए, तो वस्तु के कल्पित होने से वह असत् है। इसीलिए द्वितीयादि क्षण में भी अस्थिति ही हुई। इसी तरह यदि कहा जाय कि प्रथम क्षण स्थिति से भिन्न जिसकी जो द्वितीयादि क्षण अस्थिति है, वह परिकल्पित है, इसीलिए जिसकी प्रथम क्षण स्थिति है वह ही द्वितीयादि क्षण अस्थिति है। इस तरह भी जो प्रथम क्षण स्थिति है वह द्वितीय क्षण अस्थिति होगी। अतः यहाँ भी पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है^{१९}।

इस स्थल पर क्षणिकवादियों द्वारा यह कहा जा सकता है कि द्वितीयादि क्षण में अस्थिति होने से प्रथम क्षण स्थिति बनती नहीं है (प्रथम क्षण स्थिति का अभाव होता है) और यदि प्रथम क्षण स्थिति का भाव हो तो द्वितीय क्षण अस्थिति की अनुपत्ति होती है तथा प्रतियोगी (विरोधी) का अभाव होने से अन्यानन्यत्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है, इसीलिए उससे उत्पन्न दोष आते ही नहीं हैं। द्रष्टव्य है कि द्वितीयादि क्षण में वह वस्तु (जो प्रथम क्षण में है) है ही नहीं (क्योंकि वह क्षणिक है)।

उपर्युक्त तर्क भी उचित नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो भी वह (स्थिति) स्वयं अस्थित होने के कारण स्थिति की तरह से ही अस्थिति भी उसका धर्म हो जाएगा। यदि अस्थिति को उसका धर्म नहीं मानते तो सदा स्थिति ही रहेगी। द्रष्टव्य है कि द्वितीय क्षण में उसकी (वस्तु की) ही स्थिति है और इसलिए स्वहेतु द्वारा वह स्थिति धर्म वाला एवं अस्थिति धर्म वाला है, ऐसा मानना चाहिए। अक्रमयुक्त धर्म वाले कारण से क्रमयुक्त धर्म वाले कार्य की उपपत्ति घटती नहीं है। यदि ऐसा होता है तो जब स्थिति होगी तभी अस्थिति भी होगी। इसी प्रकार क्षणस्थित धर्म कहाँ रहेंगे? स्थिति हो तो भी क्षणिक स्थिति होने से प्रथम क्षण स्थिति के साथ अविरोध होने से प्रथम क्षण की तरह सदा स्थिति का प्रसङ्ग आएगा। इस तरह निरंश और क्षणस्थित धर्मक स्वभाव वाले हेतु से वैसे स्वभाव वाला कार्य हो ऐसा कहना युक्तिहीन होने के कारण विद्वानों को शोभा नहीं देता, क्योंकि कारण और कार्य दोनों में स्वभावान्तर कल्पना (नित्य स्वभाव की कल्पना) भी कर सकते हैं^{२०}। यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि अर्थक्रिया के अभाव का प्रसङ्ग होने से यह स्वभावान्तर कल्पना अशक्य है तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि वास्तव में क्षणस्थिति धर्म वाली वस्तु के बारे में ही अर्थक्रिया के अभाव का प्रसङ्ग आता है। उदाहरणार्थ- यथोक्त स्वभाव वाली वस्तु ही अर्थक्रिया है क्योंकि कहा गया है कि 'जो होने

वाला है वही उसकी क्रिया है' तो उपर्युक्त कथन के अनुसार वह अर्थक्रिया ही नहीं घटती है। अतः क्षणिक वस्तु की अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी विज्ञानादि कार्य की उत्पत्ति होना असम्भव है। अतः नित्यानित्य स्वभाव वाली वस्तु ही कथंचित् स्थिति रूप होने से नाना स्वभाव वाली होने से विज्ञानादिक पैदा करती है और उससे उसका ज्ञान होता है।

वस्तु का जो नित्यानित्यत्व है वह वस्तु के स्वयं द्रव्यपर्यायोभय स्वरूप होने से एवं अनुवृत्ताकार व्यावृत्ताकार संवेदन ग्राह्य होने से प्रत्यक्ष सिद्ध है। उदाहरणार्थ-मृत्पिण्ड, शिवक (पशुओं द्वारा शरीर खुजलाने हेतु खम्भा), स्थासक (पानी का बुलबुला), घट, कपालादि के बारे में अविशेष रूप से सर्वत्र मृत्तिका के अन्वय की आवृत्ति जानी जाती है और प्रतिभेद में पर्याय की व्यावृत्ति जानी जाती है। जैसे कि मृत्तिका पिण्ड में जिस आकार का संवेदन है, उस आकार का संवेदन शिवकादि में नहीं है, क्योंकि आकार भेद का अनुभव होता है। मृत्तिका से विजातीय अग्नि, जल, पवन आदि का उससे जिस आकार का भेद है वैसा शिवकादि का परस्पर नहीं है, क्योंकि मृत्तिका उसमें अन्वित है, ऐसा अनुभव होता है। इसी तरह ऐसे स्वसंवेद्य संवेदन का अपलाप करना योग्य नहीं है क्योंकि प्रतीति का विरोध होता है। निराकार संवेदन से यह अर्थान्तर है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि निराकार संवेदन से विवक्षित वस्तु का ज्ञान नहीं होता। वस्तु के आकार का अनुभव किए बिना अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता क्योंकि अति प्रसङ्ग आता है तथा सब जीव सभी पदार्थों को जानने वाले हो जाने की आपत्ति आती है। ऐसा भी नहीं कह सकते कि यह संवेदन भ्रान्त रूप है क्योंकि देशान्तर, कालान्तर, नरान्तर, अवस्थान्तर इन सब के बारे में विशेषतः प्रवृत्त है। उदाहरणार्थ-देशान्तर से, कालान्तर से, नरान्तर से या अवस्थान्तर से मृत्पिण्डादि का संवेदन जैसा है वैसा ही रहता है। इसी तरह अर्थ से उत्पन्न हुए अविशेषवादी संवेदन को जानकर जाति विकल्प से पदार्थ व्यवस्था मानना योग्य नहीं है, क्योंकि प्रतीति से वह विरुद्ध हो अग्राह्य सिद्ध होता है। जो एकान्त नित्य है उससे यथोक्त (अनुवृत्त व्यावृत्ताकार) संवेदन सम्भव नहीं है क्योंकि व्यावृत्ताकार के निबन्धन रूप जो पर्याय भेद है वह ही वहाँ सम्भव नहीं है। अन्यथा (यदि पर्याय भेद से हो तो) एकान्त नित्यता की ही अनुपपत्ति होती है। इसीलिए कहा भी गया है—एकान्तनित्य भावों द्वारा अन्वय व व्यतिरेक उभयात्मक संवेदन बनता नहीं है क्योंकि धर्म (पर्याय) भेद का अभाव है^{११}।

इसी प्रकार एकान्त नित्य पदार्थ से भी अन्वय-व्यतिरेकवत् संवेदन होने का अभाव है, क्योंकि वहाँ अनुवृत्ताकार के कारण (निबन्धन) रूप द्रव्याद्रव्य का

अभाव है। निरन्वय अनित्य पदार्थ को स्वीकार करने वाले को उससे अन्य उसके जैसी वस्तु का प्रभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वथा हेतु निवृत्ति मानने पर अहेतुक होने का प्रसङ्ग आता है। यदि कथंचित् निवृत्ति मानें तो अन्वय सिद्ध होगा। हरिभद्र द्वारा कहा भी गया है- “सर्वथाकारणोच्छेदाद्भवेत् कार्यमहेतुकम्। तच्छक्त्यवयवाधारस्वभावानामनन्वयात्”^{२१}। अर्थात् सर्वथा कारण का उच्छेद होने से कार्य अहेतुक होता है, क्योंकि कारणगत शक्ति के आधार पर रूप अवयव का कार्य के साथ अन्वय है ही नहीं।

इस अन्वय-व्यतिरेक वाले संवेदन का कोई बाधक प्रत्यय नहीं है क्योंकि कदापि भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है। यागज प्रत्यय को यदि बाधक कहा जाय तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसका प्रमाण नहीं है। कहा भी गया है, “योगी क्षणिक को जानता है और नित्य को नहीं जानता यह कैसी प्रथा कहलाती है? शिष्य के अनुकूल उपदेश तो रीत से भी प्रवृत्त है”^{२२}। अर्थात् ‘योगी को जगत् का प्रतिक्षण भिन्न वस्तु समष्टि रूप में ही प्रत्यक्ष होता है और स्थिर वस्तु का समष्टि रूप में प्रत्यक्ष नहीं होता’, इसमें कोई नियामक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि ‘सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं’ भगवान् बुद्ध का यह कथन ही इस बात में प्रमाण है कि योगी को क्षणिक रूप में जगत् का साक्षात्कार होता है, क्योंकि वह वस्तु को जिस रूप में देखता है उसी रूप में उसका उपेदश करता है’ तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उपेदश योग्य व्यक्ति की मानसिक स्थिति के अनुसार अनुग्रहार्थ वस्तु का अतद्रूप में भी उपेदश हो सकता है। यह ठीक उसी प्रकार है कि जैसे अपनी जीवित भार्या में आसक्त ब्राह्मण की सन्यास आश्रम में प्रवेश की इच्छा पूर्ति के लिए, कोई उसकी जीवित भार्या को मृत बताता है। अतः योगी ज्ञान से भी वस्तु को अनित्य (क्षणिक) सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बौद्ध दार्शनिकों द्वारा उठाये गए उक्त आक्षेप उचित नहीं हैं, अन्वय सहित व्यतिरेक और व्यतिरेक सहित अन्वय ऐसा ही व्यक्ति का स्वरूप है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र कहते हैं, ‘भेद है इसलिए अन्वय नहीं है, अन्वय है इसलिए भेद नहीं, ऐसा मृत्तिका और भेद उभय जो संसर्ग वृत्ति जात्यन्तर है, वह घट कहलाता है’^{२३}। इसलिए वह जिस तरह से नित्य है उसी तरह से अनित्य भी है, क्योंकि पर्यायों के द्रव्य में अभ्यन्तरीकृत हो जाने से (समा जाने से) द्रव्यरूप से नित्य है। इसी प्रकार वह जिस तरह से अनित्य है उसी तरह से नित्य भी है क्योंकि वह पर्याय रूप से अनित्य है और द्रव्य पर्यायों में अभ्यन्तरीकृत है। अतः वस्तु का उभयरूपत्व अनुभवसिद्ध है।

आचार्य कहते हैं कि द्रव्य पर्याय से रहित और पर्याय द्रव्य से रहित कहाँ, कब, किसने, कौन से स्वरूप से और कौन से प्रमाण से देखा है' आदि^{२५}।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि पर्याय की निवृत्ति होने से द्रव्य की भी निवृत्ति होती है या नहीं होती है? यदि निवृत्ति हो तो वह (द्रव्य) अनित्य हुआ क्योंकि वह पर्याय के स्वरूप के समान ही निवृत्ति वाला है। यदि निवृत्ति न हो तो द्रव्य और पर्याय का भेद हो जाएगा। यहाँ द्रष्टव्य है कि पर्याय से द्रव्य भिन्न है और पर्याय की निवृत्ति से द्रव्य की निवृत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार घोड़ा आदि से ऊँट भिन्न है उसी तरह यह भी भिन्न है।

आचार्य हरिभद्र इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं^{२६} कि उपर्युक्त कथन भी अयुक्त है क्योंकि हम कथंचित् निवृत्ति को स्वीकार करते हैं। यह अनुभव सिद्ध भी है। उदाहरणार्थ- घट पर्याय की निवृत्ति होने से कपालकाल में भी कपालबुद्धि से मृत्तिका का अनुभव तो होता ही है, क्योंकि मृत्तिका की यदि एकान्त निवृत्ति होती हो तो ऊर्ध्वादि पर्याय के जैसे उसका अनुभव नहीं होगा। ऊर्ध्वादि आकार की निवृत्ति से ही भेद की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि न ऊर्ध्वादि द्वारा ही मृत्तिका का सर्वथा भेद है और न ही कपाल की मृत्तिका घट की मृत्तिका से सर्वथा भिन्न है। यदि ऐसा संभव हो तो वह मृत्तिका ही अमृत्तिका हो जाएगी। जैसे पानी मृत्तिका नहीं है और कपाल की मृत्तिका से अत्यन्त भिन्न है उसी तरह वह मृत्तिका ही अमृत्तिका हो जाएगी क्योंकि पानी से वह अविशेष है।

यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि वस्तु सजातीय और विजातीय से व्यावृत्त स्वरूप वाली है और सभी पदार्थों में (कपालादि में) प्रतिनियत एक स्वभाव वाली है, इसलिए 'मृत्स्वभाव के न घटने का दोष' नहीं आता है। उदाहरणार्थ- जिस प्रकार कपालभाव, उदकादि (पानी आदि) से व्यावृत्त हो, मृत्स्वभाव है, वैसे ही घटादि से व्यावृत्त हो मृत्स्वभाव है, क्योंकि वह एकस्वभाव वाला है और एक स्वभाव से ही व्यावृत्त है।

जैन मान्यता के अनुसार उपर्युक्त कथन अनुभव विरुद्ध होने से अयुक्त है। यहाँ द्रष्टव्य है कि यदि कपालभाव जिस स्वभाव से अमृत्स्वभाव से व्यावृत्त है उसी स्वभाव से मृत्स्वभाव से भी व्यावृत्त हो तो वह जिस प्रकार से अमृत्स्वभाव वाले पदार्थ (पानी) का एकान्तभिन्न अवभास में हेतु बनता है, उसी तरह मृत्स्वभाव वाले पदार्थ (कपालादि) की अपेक्षा से भी होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि मृत्स्वभाव का ही अनुभव होता है और उस स्वभाव की ही कपालरूप से परिणति हुई है। अनुभव का अपलाप नहीं हो सकता है क्योंकि 'अर्थाधिगम के बारे में सत्पुरुष अनुभव को प्रमाण मानते हैं'। प्रतिनियत एक स्वभावानुभव के निबन्धन

४६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

को स्वीकार करने पर समान परिणाम ही स्वीकार होता है, इसलिए यहाँ कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार की एकान्त अनिवृत्ति मानने से कपालभाव घट से विलक्षण बुद्धि का अभाव होगा और इस तरह कपालरूप की बुद्धि ही नहीं होगी क्योंकि वहाँ विशेष का अभाव है (कुछ विशेषता सम्भव नहीं होती) और वस्तु अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर एक स्वभाव है। इस तरह यदि वस्तु का स्वभाव अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एक स्वभाव है तो कपाल से विलक्षण बुद्धि के अभाव के हेतु विशेष का भी अभाव होने से वह घटवस्तु सम्भव नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में आचार्य हरिभद्र के शब्दों में उपर्युक्त विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार जो प्रारम्भ में पूर्वपक्षी के द्वारा आक्षेप किया गया था, 'कूटस्थानित्य रूप से पदार्थ नहीं है, एवं पर्याय से भिन्न द्रव्य असिद्ध है, इत्यादि' ये सब आक्षेप अयुक्त हैं। अतः वस्तु को नित्यानित्य स्वरूप मानना चाहिए। आचार्य का भी कथन है कि द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद प्रमाण से सिद्ध है क्योंकि वस्तु का संवेदन सबको अन्वयव्यतिरेकवत् (नित्यानित्य रूप में) ही होता है। अतः स्वसंवेदन सिद्ध बात में विरोध दर्शाना मानव की व्यसनता या बुद्धि की जड़ता मात्र को ही दर्शाता है^{१७}।

इस प्रकार हम पाते हैं कि केवल भेद तथा केवल अभेद या एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य इन दो धर्मों को वस्तु का स्वरूप मानने के सिद्धान्त की तुलना में 'भेद तथा अभेद दोनों का साथ रहना' इस एक धर्म को वस्तु का स्वरूप मानने का सिद्धान्त कुछ विलक्षण ही है। इस प्रकार हम पाते हैं कि अन्वय एवं व्यतिरेक (स्थिरता एवं नाश) जिन्हें क्रमशः द्रव्य एवं पर्याय भी कहा जाता है अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ रहते हुए ही वस्तु का निर्माण करते हैं तथा वस्तु में रहते हुए वे (एक विलक्षण प्रकार से) परस्पर भिन्न तथा परस्पर अभिन्न दोनों हैं।

सन्दर्भ सूची

१. येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते। अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः॥- षडदर्शनसमुच्चय, आचार्य हरिभद्र, का० ५७, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९८१, द्वितीय संस्करण, पृ० ३४७
२. डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, तीर्थङ्कर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, १९७४, पृ० १४३
३. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गा० ८७, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, १९६४, पृ० ९८

४. सन्मतितर्क, आचार्य सिद्धसेन, गा० ३/८-१४, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३, पृ० ६३-६६
५. वही, गा० १५ अभयदेवसूरिटीका। यथा- न च गुणानां पर्यायत्वे वाचकमुख्यसूत्रम्- गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (तत्त्वार्थसूत्र ५/३७) इति विरुद्धयते, युगपद्-अयुगपद्भाविपर्यायविशेष-प्रतिपादनार्थत्वात्तस्य, — द्रष्टव्य अनेकान्तवाद एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० राजेन्द्र लाल डोसी, गंगानाथ झा संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, १९८२, पृ० ८६
६. अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोनुपाख्यम् — स्वयम्भूस्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र, श्लोक २२, श्री गणेशवर्णी दि० जैन शोध संस्थान, वाराणसी, १९९३, पृ० ५२, आप्तमीमांसा, श्लोक ७३, श्री गणेशवर्णी दि० जैन शोध संस्थान, वाराणसी, १९७५, पृ० २४८,
७. आप्तमीमांसा, आचार्य समन्तभद्र, पूर्वोक्त, पृ० २४८
८. स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक २४, पूर्वोक्त, पृ० ५५, आप्तमीमांसा, श्लोक ३७, पूर्वोक्त, पृ० १९६
९. घटमौलीसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥ — शास्त्रवार्तासमुच्चय, आचार्य हरिभद्र, ७/२, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, वीर०सं० २५१०, विक्रम सं० २०४०
१०. पयोत्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽति दधित्रतः।
अगोरसत्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ — शास्त्रवार्ता समुच्चय, पूर्वोक्त, ७/३
११. अन्वयो व्यतिरेकश्च द्रव्यपर्यायसंज्ञितौ।
अन्योन्यव्याप्तितो भेदाभेदवृत्त्यैव वस्तु तौ॥ — पूर्वोक्त, ७/३१
१२. अनेकान्तवादप्रवेश, आचार्य हरिभद्र, द्वितीय पूर्वपक्ष, भोगीलाल लहेरचन्द शाह, पाटन, गुजरात १९१९ ई०, पृ० ४
१३. वही, पृ० ५
१४. शास्त्रवार्तासमुच्चय, पूर्वोक्त, ७/४०
१५. अनेकान्तवादप्रवेश, पूर्वोक्त, पृ० २२
१६. वही, पृ० २३
१७. वही, पृ० २३
१८. वही, पृ० २५

४८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

१९. अनेकान्तवाद प्रवेश, पृ० २६
२० वही, पृ० २६-२७
२१. भावेष्वेकान्तनित्येषु नान्वयव्यतिरेकवत् ।
संवेदनं भवेद् धर्ममेदाभावादिह स्फुटम् ॥१॥ इत्यादि।- वही, पृ० ३०
२२. वही, पृ० ३०
२३. वही, पृ० ३० एवं शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, पूर्वोक्त, ७/६३
२४. नान्वयः सहभेदित्वात्र भेदोऽन्वयवृत्तितः।
मृद्धेदद्वयसंसर्गवृत्तिजात्यन्तरं घटः ॥२१॥ इत्यादि। - अनेकान्तवादप्रवेश,
पूर्वोक्त, पृ० ३१
२५. वही, पृ० ३१
२६. वही, पृ० ३२
२७. द्रव्यपर्याययोः सिद्धो भेदाभेदः प्रमाणतः। संवेदनं यतः सर्वमन्वयव्यतिरेकवत्॥
स्वसंवेदनसिद्धे च विरोधोद्भावनं नृणाम् । व्यसनं धीजडत्वं वा प्रकाशयति
केवलम् ॥ - वही, पृ० ३४

अङ्ग साहित्य में वर्णित पारिवारिक व्यवस्था का स्वरूप

श्वेता सिंह

इस शोध-पत्र के माध्यम से अङ्ग साहित्य में वर्णित तत्कालीन पारिवारिक-व्यवस्था का चित्रण किया गया है। इसमें मुख्य रूप से आचाराङ्गसूत्र, स्थानाङ्गसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा एवं विपाकसूत्र से सन्दर्भ उद्धृत किया गया है। इन उद्धरणों के माध्यम से संयुक्त परिवार-व्यवस्था को रेखाङ्कित किया गया है। तत्कालीन पारिवारिक-व्यवस्था को समझने के लिए आलेख की उपयोगिता है।

— सम्पादक

जैन अङ्ग साहित्य जैन संस्कृति की प्राचीनतम व अनमोल निधि है। जैन संस्कृति में इसे वही स्थान प्राप्त है, जो ब्राह्मण संस्कृति में वेद, बौद्ध संस्कृति में पिटक तथा इसाई संस्कृति में बाइबिल को प्राप्त है। इसकी विषयगत विशेषता एवं विस्तार के कारण इसे द्वादशशाङ्ग, अङ्ग प्रविष्ट आदि नामों से भी संज्ञापित किया गया है। सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें समाज को आधार प्रदान करने वाले सभी पक्षों परिवेश, वर्ण, जाति-व्यवस्था, पारिवारिक संस्था आदि विस्तृत उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत शोध पत्र में अङ्ग साहित्य में वर्णित उद्धरणों के आधार पर पारिवारिक संस्था का विवेचन किया गया है—

मानव निर्मित सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक ऐसा आधार है, जिसके बिना गृहस्थ जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। मनुष्य का उत्कर्ष भी उसके पारिवारिक जीवन के माध्यम से ही होता है। वास्तव में परिवार मानव निर्मित सामाजिक संस्था की मूलभूत इकाई ही नहीं बल्कि आधारशिला भी है जिसमें मनुष्य की जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी अवस्थाएँ व्यतीत होती हैं। भारतीय संस्कृति में परिवार को मानव समाज के विकास एवं प्रगति का द्योतक माना जाता है।

परिवार एक ऐसा प्राथमिक समूह है जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, ननद-देवर, सास-श्वसुर आदि संयुक्त रूप से प्रेमपूर्वक एक ही छत के नीचे निवास करते हैं जो आपस में रक्त सम्बन्धी भी होते हैं।^१

जैन अङ्ग साहित्य में भी ऐसे ही अनुशासित व संस्कारित पारिवारिक सदस्यों का उल्लेख मिलता है जो प्रेमपूर्वक रहते थे। अङ्ग साहित्य के अनुसार तत्कालीन समाज में संयुक्त परिवार-प्रथा प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत माता-पिता से लेकर सगे-सम्बन्धी व दास-दासी आते थे। मानव के विकास के साथ-साथ परिवार में सहयोग, त्याग, उत्कर्ष एवं बलिदान तथा परस्पर उन्नति एवं सहकार की भावना उत्तरोत्तर बलवती होती गई जिससे समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली का सूत्रपात हुआ। जैन अङ्ग साहित्य के अनुसार परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी के मध्य परस्पर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होते थे। इनके साथ-साथ पुत्रवधुएँ, पुत्री, भगिनी, माता की बहिनें, महामाता, महापिता, जमाता, मामा-मामी, दास-दासी, मित्र, सगे-सम्बन्धी आदि भी साथ-साथ रहते हुए समस्त पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन करते थे। एक ही परिवार में तीन पीढ़ी के लोग सरलता से रहते थे। वयोवृद्ध या बड़ा सदस्य मुखिया होता था। परिवार के सभी सदस्य इसके प्रति आदर भाव रखते थे। सामान्य रूप से विभिन्न कुलों में रहने वाले सदस्यों को भिन्न-भिन्न कुल, परिवार, वंश या जाति का सूचक माना जाता था। जैन अंग साहित्य में कई स्थानों पर व्यक्ति के जातिसम्पन्न, उत्तम मातृपक्ष तथा पितृपक्ष से सम्पोषित परिवार में जन्म लेते हुए व्यक्त करने की परम्परा उसके गोत्र व वंश विषय मत की पुष्टि करता है। निशीथचूर्णि में परिवार के सभी सदस्यों को नाभि के द्वारा (नालबद्ध) सम्बन्धित बताते हुए उन्हें परस्पर सम्बन्धी कहा गया है। विपाकसूत्र में सोलह सदस्यों का उल्लेख मिलता है जो आपस में रक्त सम्बन्धी होते थे। लघुपिता (चाचा), लघुमाता (चाची), महापिता (पिता के ज्येष्ठ भ्राता-ताऊ), महामाता (ताई), पुत्र, पुत्रवधु, जमाता, लड़कियों, नव्ताओं (पौत्रों व दौहित्रों), लड़के और लड़कियों की पुत्रियाँ (पौत्रियों और दौहित्रियों), नृपृकापतियों (पौत्रियों व दौहित्रियों के पतियों), पिता की बहिनों के पति (फूफा), पिता की बहिनें (बुआ), माता की बहिनें (मौसी), माता की बहिनों के पति (मौसा), मामा और उनकी पत्नियाँ, भाई-भाभी, दास-दासी, मित्र तथा सगे-सम्बन्धी व परिजन^१। जैन अङ्ग साहित्य के अनुसार परिवार दो प्रकार के होते थे।

परिवार के सदस्य व उनके सम्बन्ध—

परिवार में माता-पिता

न केवल भारतीय संस्कृति में बल्कि विश्व की प्रत्येक संस्कृति में माता-पिता को सम्मानजनक व पूजनीय स्थान प्राप्त रहा है। किसी भी पारिवारिक संस्था की आधारशिला माता-पिता होते हैं जिनपर पारिवारिक सदस्यों की नींव आधृत रहती

है। जैन अङ्ग साहित्य ज्ञाताधर्मकथा में दोनों की तुलना मेरुदण्ड से की गई है^३। इन दोनों की परिवार में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी।

पिता परिवार का संचालक, कार्यों का संयोजक और धन-सम्पत्ति का व्यवस्थापक परिवार का सबसे वरिष्ठ सदस्य होता था। उसकी स्थिति परिवार में उस धुरी की भाँति होती थी जो परिवार के विकास एवं संवर्धन में सहायक होता है। उदाहरणार्थ- उपासकदशांगसूत्र में आनन्द के पिता की तुलना उस मेढ़ी से की गई है जिसको खलिहान के मध्य गाड़कर उससे बैलों को बाँधकर अनाज निकालने हेतु चारों ओर घुमाया जाता है।^४ परिवार में पिता को ईश्वरतुल्य माना जाता था। पुत्र-पुत्रियाँ प्रातःकाल पिता की पाद वन्दना करती थी। वह सभी पारिवारिक सदस्यों का पालनकर्ता व पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी होता था। पुत्रों द्वारा माता-पिता के चिन्तित हो जाने पर देवाराधना करके उनके मनोरथ को पूर्ण करने का प्रयास किया जाता था। अङ्ग साहित्य में कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जो माता-पिता तथा पुत्रों के परस्पर प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को प्रस्तुत करते हैं। ज्ञाताधर्मकथा के विवरण के अनुसार— संकट के समय प्राण-रक्षा हेतु पिता के भक्षण हेतु पुत्रों ने स्वयं को भोजन के रूप में ग्रहण करने का आग्रह किया था लेकिन अन्त में पिता के निर्देशानुसार अपनी मृत भगिनी के मांस को खाकर उन सबने अपने प्राणों की रक्षा की थी^५।

भारतीय संस्कृति में पिता की भाँति माताओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। जैन साहित्य के अनुसार, “माता परिवार की वह अटूट कड़ी होती थी जो परिवार के सभी सदस्यों को जोड़े रहती थी। समाज में मातायें घनिष्ठता, अपनत्व, स्नेह का प्रतीक मानी जाती थी। ” डॉ० रूडोल्फ के मतानुसार- “ जिस प्रकार हिन्दू परम्परा में देवगुरु वृहस्पति विशेष पूजनीय होते हैं, उसी प्रकार मातायें भी पुत्रों व पुत्रियों द्वारा पूजनीय होती थी^६। विपाकसूत्र में एक ऐसे पुत्र पुष्यनन्दी का उल्लेख मिलता है, जिसने अपनी माता की सेवा में अपना पूरा जीवन व्यतीत कर दिया था। प्रातःकाल वह अपनी माता की चरण वन्दना करता तथा रोग-ग्रस्त अवस्था में उन्हें स्नान कराकर शतपाक व सहस्रपाक (सौ औषधों के तथा हजार औषधों के सम्मिश्रण से बने) तेलों से शरीर की मालिश कर उन्हें पहले भोजन कराता तत्पश्चात् स्वयं भोजन ग्रहण करता था।^७ एक उद्धरण के अनुसार— उसने अपनी माँ का वध करने वाली अपनी पत्नी का भी वध कर दिया था। इसी प्रकार साधना में लीन श्रमणोपासक चुलनीपिता अपने साधना के समय पुत्र-वध की बात सुनकर उतना दिग्भ्रमित नहीं हुआ जितना अपने माँ के वध की बात सुनकर हुआ था।^८ यदि उपर्युक्त चरित्रों की तुलना ब्राह्मण परम्परा के साहित्य

में वर्णित राम व श्रवण कुमार से की जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंगों से माता-पिता व उनके बच्चों के मध्य मधुर सम्बन्धों का बोध होता है।

पति-पत्नी

प्राचीन काल से ही हिन्दू परिवारों में पति-पत्नी को साथ-साथ आँकलित किया जाता रहा है। ये दोनों संयुक्त रूप से गृहस्थ-सम्बन्धी दायित्वों का निर्वहन करते व एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार बनते थे। जैन अङ्ग साहित्य में पति-पत्नी के मध्य मधुर सम्बन्धों का बोध होता है। पति के लिए गृहस्वामी व पत्नी के लिए गृहस्वामिनी शब्द का प्रयोग किया जाता था। जहाँ पति घर के बाह्य कार्यों को देखता, वहीं पत्नी घर के आन्तरिक कार्यों को देखती थी। परिवार के प्रति दोनों का व्यवहार उदार और सहानुभूतिपूर्ण होता था। प्रायः पत्नियाँ अपनी मर्यादा व विनम्रता का पालन करते हुए सभी कार्यों को पतियों के मनोनुकूल करती थीं। पति भी पत्नी की इच्छाओं का पूरा ध्यान रखता था तथा उसके जरा सा चिन्तित होने पर कारणों का स्पष्टीकरण करके उसका निवारण करता था^१। पत्नी भी पति के लिए कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, विश्वासपात्र तथा रत्नजडित आभूषणों के समान होती थी जिसे पति सर्दी-गर्मी, मच्छर, सर्प, चोर तथा रोगान्तक खतरों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता था^२। पति एवं पत्नी दोनों को एक दूसरे की इच्छाओं का सम्मान करना एवं किसी कार्य में एक मत होना ही उस समय दाम्पत्य जीवन के सर्वोच्च आदर्श थे। साथ ही अङ्ग साहित्य में कुछ ऐसे भी प्रसङ्ग मिलते हैं जिससे पति-पत्नी के एक दूसरे के प्रति सच्चरित्रता एवं गुणवान होने की पुष्टि होती है। इस प्रकार पत्नियों को भी परिवार में सभी सदस्यों का अपार स्नेह प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त पत्नियाँ परिवार में अन्य सदस्यों के साथ शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रस— इन पाँच प्रकार के भोगों का सेवन करती थीं। उच्च कुलों की पत्नियाँ अपने पतियों के साथ गन्धहस्ती पर सवार होकर विचरण करती थीं।

परिवार में सास-श्वसुर द्वारा पत्नियाँ वधू की संज्ञा से उपदिष्ट की जाती थीं। वधू के रूप में इन्हें ससुराल में पुत्री सदृश स्थान प्राप्त था। प्रायः पति के प्रव्रज्या के समय सास-श्वसुर ही उनके प्रति दायित्वों का निर्वहन करते व आजीवन उसकी देखभाल करते थे। वधुयें भी उनका पूरा ख्याल रखती थीं। अङ्ग साहित्य में कुलवधुओं के कार्यों का विभाजन उनके ज्येष्ठत्व के आधार पर किये जाने का संकेत मिलता है। यहाँ ज्येष्ठत्व का आधार उनकी आयु को न मानकर कार्यों के

निष्पादन में चातुर्य, विवेक तथा बुद्धि को निरूपित किया गया है। ज्ञाताधर्म के अनुसार— “ वधुओं के कार्यों का विभाजन परिवार के मुखिया के द्वारा मनोवैज्ञानिक परीक्षा के आधार पर किया जाता था, परिणामस्वरूप उन्हें क्रमशः परिवार-संचालिका, कोषागार-नियामिका तथा भोजन बनाने एवं सफाई के कार्यों में नियुक्त किया जाता था^{११}” इस तरह के उद्धरण सास-श्वसुर व वधुओं के मध्य भी मधुर सम्बन्धों का बोध कराते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रसङ्गों से यह परिलक्षित होता है कि पति-पत्नी दोनों का परिवार में समान महत्त्व था। दोनों ही अपनी सद्वृत्तियों और रीतियों से परिवार को सुखमय बनाये रखने में तत्पर रहते थे। बदलते हुए नैतिक मूल्यों और परिवर्तनशील कालों के संदर्भ में पति-पत्नी का यह आदर्शमय रूप सदैव प्रेरणास्पद रहेगा।

सन्तान

किसी भी संस्कृति के कुटुम्ब का उद्भव तो विवाह से होता है किन्तु उसका विकास सन्तान से होता है। सन्तान ही परिवार की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं जिससे परिवार की पूर्णता का लक्ष्य पूरा होता है। सन्तान के अन्तर्गत पुत्र व पुत्री दोनों ही आते हैं। किसी संस्कृति में पुत्र को अधिक महत्ता प्रदान किया गया है तो किसी में पुत्री को। किन्तु जैन संस्कृति में दोनों को ही समान दृष्टि से देखा गया है। ब्राह्मण परम्परा की भाँति पुत्रों को ही विशेष महत्ता नहीं प्रदान किया गया है। ब्राह्मण साहित्य में पुत्रों को वैतरणी नदीपारक, पितृ ऋण से मोक्ष प्रदान कर्ता तथा कुल व वंश का वर्धक बतलाया गया है। जैन अङ्ग साहित्य में इस तरह के किसी भी तथ्य का उल्लेख नहीं मिलता है। जैन अङ्ग साहित्य के उद्धरण के अनुसार— “समाज में पुत्र-प्राप्ति का उद्देश्य परिवार की रक्षा, पोषण व उत्तराधिकारी सम्बन्धी दायित्वों के निर्वहन करने से था। अङ्ग साहित्य में ऐसे अनेक प्रसङ्ग मिलते हैं, जिसमें पिता की प्रव्रज्या के समय पुत्र ही उत्तराधिकारी मनोनीत होते हैं जिनमें ज्येष्ठ पुत्रों को विशेष अधिकार प्राप्त था^{१२}।

उत्तराध्ययनसूत्र में पुत्र की महत्ता के संदर्भ में वर्णित है— “जिस प्रकार शाखाओं से रहित वृक्ष, पंखों से रहित पक्षी, युद्ध में सेना से रहित राजा तथा जलपोत पर धनरहित व्यापारी असहाय होता है, उसी प्रकार पुत्र के बगैर पिता भी असहाय होता है।

प्रायः पुत्रों के जन्म के अवसर पर कई प्रकार के संस्कारों का भी आयोजन किया जाता था, जैसे- अन्नप्राशन, पंचक्रय, कर्णविधन, चूलोनयन आदि जिसमें प्रत्येक

५४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

पारिवारिक सदस्य व मित्रगण सम्मिलित होते थे। प्रत्येक संस्कार शुभ नक्षत्र-ग्रह देखकर विधि-विधान से सम्पन्न कराया जाता था। जहाँ अन्नप्राशन में उसे अन्न ग्रहण कराया जाता था वहीं नामकरण में नाम रखा जाता। यहाँ ध्यातव्य है कि नाम भी गुणों के आधार पर रखे जाते थे। उदाहरणार्थ- “भगवान् महावीर जिस दिन त्रिशला के गर्भ में आए उनके कुल में सोने-चाँदी, रत्न, मणियों, मोतियों, मूंगों की वर्षा हुई अर्थात् उनके राजस्व में अपार वृद्धि हुई, जिससे उनका नाम वर्द्धमान रखा गया^{११}।” विपाकसूत्र के अनुसार- “गोत्रास (पशुओं को त्रास न देने वाला), अभग्नसेन (माँ के दोहद को भग्न न होने देने में सहायक), शकट (जन्म लेते ही सगड़ के नीचे रख दिया जाने वाला) आदि बालकों के नाम उनके गुणों के आधार पर रखे गये थे^{१२}। स्थानाङ्गसूत्र में दस प्रकार^{१५} के पुत्रों के नामोल्लेख मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं- आत्मज, क्षेत्रज, दत्तक, वैधक-विद्या, गुरुकालिक, औरस, मौखर, शौण्डीर, समबन्धित औपयाचितक, धर्मान्तेवासी।

अङ्ग साहित्य के अनुसार पुत्रों को माता-पिता का अपार स्नेह प्राप्त था। एक अन्य विवरण के अनुसार- “पुत्र माता-पिता हेतु प्रिय, कान्त, रत्न-आभूषणों, गुलर के फूलों सदृश्य था।” ज्ञाताधर्मकथानुसार- “महावीर भगवान् का उपदेश सुनकर जब मेघकुमार ने श्रमणदीक्षा स्वीकार की तो उसकी माता अचेत होकर लकड़ी के लट्टे की भाँति गिर पड़ी, होश आने पर करुणाजनक शब्दों में वह अपने पुत्र को संसार के विषय-भोगों का त्याग न करने के लिए बार-बार अनुरोध करने लगी^{१६}।

इस प्रकार के अनेक प्रसङ्ग अङ्ग साहित्य में मिलते हैं, जो माता-पिता व बच्चों के मध्य मधुर सम्बन्धों को दर्शाते हैं।

पुत्री

पुत्री नारी जीवन का प्रारम्भिक रूप होती है जिससे वह समाज में प्रवेश करती है। जैन परम्परा में वह सम्मानित थी। पुत्रों की भाँति माता-पिता का पुत्री के प्रति भी अपार स्नेह होता था। यद्यपि उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उसे पुत्रों की अपेक्षा कम अधिकार प्राप्त था परन्तु इसका अर्थ यह न था कि वह पूर्णतः उपेक्षित थी। पुत्रों की भाँति पुत्रियों के जन्म पर अनेक उत्सवों का आयोजन किया जाता था। संस्कार सम्बन्धी सभी दायित्व भी पूरी निष्ठा के साथ सम्पन्न किया जाता था। प्रायः जातकर्म संस्कार, नामकर्म, अठाई महोत्सव आदि का आयोजन बड़े धूमधाम से किया जाता था^{१७}। वर्षगाँठ के अवसर पर कन्याओं को पुष्पों व नये वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर सम्मानित किया जाता था। पुत्रियाँ स्वतंत्रापूर्वक जीवन व्यतीत करती थीं। यौवनावस्था (किशोर वय) के पूर्व तक कन्यायें लड़के तथा लड़कियों

के साथ समान रूप से खेला करती थी^{१८} किन्तु युवती हो जाने पर उन्हें लड़कों के साथ खेलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था। इस समय वे घर में ही आँगन या छत पर दासियों के साथ गेंद आदि क्रीड़ाकर मनबहलाव करती थी^{१९}। राजकुल की कन्यायें घर के बाहर और राजपथ पर विचरण करने हेतु पूर्णतः स्वतन्त्र थी^{२०}।

इस समय की कन्यायें संस्कारवान् व गुणी होती थीं। कन्याओं के विवाह की चिन्ता उनके माता-पिता को उसी प्रकार से चिन्तित करती थी, जिस प्रकार कोई निर्धन व्यक्ति अपने स्वल्प-सम्पत्ति के नष्ट होने पर चिन्ता करता है। माता-पिता पुत्री का दुःख एक क्षण भी बर्दाश्त नहीं करते थे। शायद इसीलिए उन्हें स्वयंवर विवाह की भी छूट प्रदान थी। वे अपनी कन्याओं का विवाह ऐसे पुरुष से करना चाहते थे जो आजीवन उसका घर-जमाता बनकर रह सकें^{२१}। किन्तु इसका अर्थ यह कदाचित् न था कि अन्य विवाह प्रकारों पर विचार ही नहीं किया जाता था। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। जैन अङ्ग साहित्य में कुछ ऐसी कन्याओं का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने दीक्षा लेकर पूरा जीवन भिक्षुणी सदृश व्यतीत कर दिया था जिनमें मल्ली, चन्दना आदि का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जाता था। प्रायः ऐसी कन्यायें पितृ-सम्पत्ति की भी अधिकारिणी होती थीं। कन्यायें भी माता-पिता की प्रातःकाल चरण-वन्दना करती थीं। उपर्युक्त प्रसङ्गों से कन्याओं की संतोषप्रद स्थिति का ज्ञान होता है जो आज भी प्रेरणास्पद है।

भाई-बहन

जैन अङ्ग साहित्य में भाई-भाई व भाई-बहन के मध्य भी मधुर सम्बन्ध परिलक्षित होते हैं। भारतीय संस्कृति में इस सम्बन्ध में मधुरता एवं प्रगाढ़ता बनाए रखने हेतु रक्षाबन्धन जैसे पर्व का भी आयोजन होता है। यद्यपि अङ्ग साहित्य में इस तरह के पर्व के आयोजन का उल्लेख तो नहीं मिलता है किन्तु इस रिश्ते में मधुरता व प्रगाढ़ता के भाव अवश्य प्राप्त होते हैं।

अंग साहित्य में यदि भाई-भाई के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाए तो इनके मध्य मधुर सम्बन्ध ही परिलक्षित होते हैं, जिनकी तुलना ब्राह्मण परम्परा के चरित्र राम और लक्ष्मण के मध्य सम्बन्धों से की जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार- “क्षुधापीडित अवस्था में ज्येष्ठ भ्राता द्वारा अपने भाइयों के क्षुधाशमन हेतु प्रस्तुत किये जाने पर अन्य भाई उसके प्रति प्रेम के कारण उसका विरोध करते हैं और उनकी ज्येष्ठता के कारण उनके

प्रति सम्मान भी व्यक्त करते हैं^{२१}” अङ्ग साहित्य में भाई-भाई के साथ-साथ भाई-बहन के मध्य भी मधुर सम्बन्धों के उद्धारण मिलते हैं। प्रायः भाई छोटी या बड़ी सभी बहनों के दायित्वों का निर्वहन पूरी निष्ठा से करते थे। वे बहनों के लिए पिता की भाँति होते थे। पिता की प्रव्रज्या के पश्चात् आजीवन बहन की जिम्मेदारियों को निभाते थे। प्रायः छोटे भाई बड़ी बहन को माँ के सदृश ही आदर देते थे। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार- “मल्ली का छोटा भाई अपनी बड़ी बहन (मल्ली) के चित्र को देखकर लज्जित होकर उसके समक्ष श्रद्धा से वशीभूत हो नतमस्तक होता है^{२१}” कुछ उद्धारणों के अनुसार- प्रव्रज्या के समय भाई को बहन के विवाह व परिवार के जिम्मेदारियों का स्मरण कराकर उसे रोकने का प्रयत्न किया जाता था।

मधुर सम्बन्धों के बावजूद भी भाई, बहन के घर एक दिन भी नहीं ठहरता था^{२२} और न ही भोजन करता था, फिर भी वह बहनों के प्रति सभी दायित्वों का निर्वहन पूरे मन व प्रेम से करता था।

अङ्ग साहित्य में कुछ ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं, जिनमें भाइयों द्वारा पितृभगिनियों के दायित्वों के निर्वहन का उल्लेख मिलता है। यहाँ पितृभगिनियों से तात्पर्य पिता की बहनों से है। प्रायः पिता की प्रव्रज्या के पश्चात् भाई ही इन भगिनियों के खान-पान, रहन-सहन सम्बन्धी दायित्वों का निर्वहन आजीवन करते थे^{२३}। इनके लिए अपने खुद के भाइयों के सदृश होते थे।

उपर्युक्त प्रसङ्ग से यह प्रतीत होता है कि परिवार में शान्ति व खुशहाली का माहौल होता था। छोटे-बड़े सभी एक-दूसरे का सम्मान एवं देख-भाल करते थे।

दास-दासी

जैन अङ्ग साहित्य के अनुसार उपर्युक्त पारिवारिक सदस्यों के साथ-साथ दास-दासी भी सम्मानित रूप से घर में रहते थे। जो घर के प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यों को सम्पादित करते थे। राजा द्वारा इन्हें ‘देवानुप्रिय’^{२४} की संज्ञा से संज्ञापित किया जाता था। इन्हें परिवार के सदस्यों द्वारा अपार स्नेह व प्रेम मिलता था। विशेष उत्सवों जैसे- विवाह, संस्कार, वर्षगाँठ आदि के अवसर पर सुन्दर वस्त्राभूषणों से सम्मानित भी किया जाता था। ये घर के आन्तरिक कार्यों को देखती तथा अपने स्वामी की कन्याओं का बचपन से युवावस्था तक ख्याल रखती थीं। विवाह आदि अवसरों पर मण्डप तक उनके साथ-साथ चलती थीं। दासियों को परिवार का आन्तरिक कार्य ही सौंपा जाता था। दास, स्वामी के साथ वन-गमन करते, शिकार पर जाते, रथ चलाने आदि कार्यों को देखते थे।

दासियों की भाँति घरों में धायमाता या धात्रियाँ भी रहती थीं जिन्हें दाई भी कहा जाता है। प्रायः ये सम्पन्न परिवार में नवजात शिशुओं के पालन-पोषण, संरक्षण, संवर्द्धन एवं विकास हेतु रखी जाती थीं। ये पाँच कोटियों में विभक्त थीं- (१) क्षीरधात्री, (२) मण्डनधात्री, (३) भज्जनधात्री, (४) अंबधात्री तथा (५) क्रीडाधात्री। इनकी स्थिति भी संतोषजनक होती थी। ये बाल्यावस्था से युवावस्था तक बच्चों का उनकी माताओं की भाँति ख्याल रखती थीं। अङ्ग साहित्य में कुछ ऐसे प्रसङ्ग भी मिलते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि इनकी स्थिति माताओं की भाँति होती थी। उदाहरण के लिए मेघकुमार की प्रव्रज्या के समय मेघकुमार की माँ के साथ-साथ उसकी धायमाता भी रजोहरण व पात्र लेकर शिविका पर आरूढ़ होकर मेघकुमार के बायें पार्श्व में बैठ जाती है^{२७}।

सगे-सम्बन्धी

जैन अङ्ग साहित्य के अनुसार संयुक्त परिवार के अन्तर्गत मित्र व सगे-सम्बन्धी भी आते थे^{२८}। पारिवारिक सदस्यों की भाँति वे परिवार में रहते हुए विभिन्न आयोजनों के सहभागी होते थे जिसमें उन्हें सम्मानित कर विशेष व्यंजनों का पान कराया जाता था^{२९}।

उपर्युक्त प्रसङ्गों से यह प्रमाणित होता है कि जैन संस्कृति में पारिवारिक व्यवस्था उच्चकोटि की होती थी। सभी सदस्यों के मध्य प्रेम, सम्मान, अनुशासन का भाव था जो किसी भी पारिवारिक संस्था हेतु आवश्यक होता है। छोटे से लेकर बड़े सभी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। इस प्रकार जैन अङ्ग आगमों में वर्णित संयुक्त परिवार का प्रत्यय आधुनिक समाज के लिए भी प्रेरणास्पद है।

सन्दर्भ सूची

१. जगदीश चन्द जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५, पृ० २३४
२. विपाकसूत्र, सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान १९८१, ३/८, पृ० ४३
३. ज्ञाताधर्मकथा, सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान १९८२, १/७/४, पृ० १९८
४. उपासकदशांग, सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान १९८०, १/६, पृ० ११
५. ज्ञाताधर्मकथा, ब्यावर, पूर्वोक्त, १/१८/३७, पृ० ५०७

५८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

६. उपासकदशांग, ब्यावर, पूर्वोक्त, ३/१३३, पृ० १०८
७. विपाकसूत्र, ब्यावर, पूर्वोक्त, १९८१, ९/२४, पृ० १०६
८. उपासकदशांग, पूर्वोक्त, ३/१३३, पृ० १०८
९. ज्ञाताधर्मकथा, पूर्वोक्त, १/२/४७, पृ० १२८
१०. वही, १/१/१६, पृ० १३-१६
११. वही, १/७/४, पृ० १९८
१२. अन्तकृद्दशा, सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान, वर्ग ६, विवेचन
१३. आचारांगसूत्र, सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान, २/१५/७४०, पृ० ३७०
१४. विपाकसूत्र, पूर्वोक्त, २/१३, पृ० ३३
१५. स्थानांगसूत्र, सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान, १०/१३७/ पृ० ७३२
१६. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पूर्वोक्त, पृ० २३५
१७. ज्ञाताधर्मकथा, पूर्वोक्त, १/८/३१, पृ० २२४
१८. वही, १/१४/५, पृ० ३५९
१९. वही, १/१४/५, पृ० ३५९
२०. अन्तकृद्दशा, पूर्वोक्त, ३/१६, पृ० ५९
२१. ज्ञाताधर्मकथा, पूर्वोक्त, १/१६/४२, पृ० ४०७
२२. वही, १/३/२०, पृ० २०५
२३. वही, १/१८/३७, पृ० ५०७
२४. वही, १/८/१००, पृ० २५
२५. अन्तकृद्दशा, पूर्वोक्त, वर्ग ६, विवेचन १०३
२६. ज्ञाताधर्मकथा, पूर्वोक्त, १/७/६, पृ० १९९
२७. वही, १/१/१४६, पृ० ६९
२८. वही, १/१६/१६३, पृ० ४४७
२९. आचारांगसूत्र, पूर्वोक्त, २/१/३९१, पृ० ९२

जैन दर्शन में इच्छा-स्वातन्त्र्य की समस्या

डॉ० रूबी जैन

जैन कर्मवाद के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का समन्वय इस आलेख में किया गया है। कर्मवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को रोकता है, ऐसी धारणा सही नहीं है अपितु इसमें पुरुषार्थ या व्यक्ति स्वातन्त्र्य पूर्णतः परिलक्षित होता है।

- सम्पादक

इच्छा-स्वातन्त्र्य की समस्या प्राचीनकाल से ही मनीषियों के समक्ष रही है। इसका सम्बन्ध न केवल नीतिशास्त्र, विधिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र की प्रासङ्गिकता से है अपितु इस प्रश्न से भी है कि जीव का इस समग्र ब्रह्माण्ड में क्या स्थान है? वह एक रेंगने वाला कीड़ा मात्र है या कि वह स्वेश्वर है, जो स्वयं अपना भाग्य लिख सकता है? वह कोई स्वतन्त्र ईकाई है जो अपनी उन्नति अथवा अवनति का निर्धारण स्वयं कर सकता है या कि वह इस विशाल जगत् रूपी यन्त्र का एक कल-पुर्जा मात्र है?

इस विषय पर विचार करने वाले दार्शनिक परस्पर दो वर्गों में विभक्त हैं। उदाहरण के लिये यदि हम मान लें कि एक व्यक्ति कोई कार्य किसी विवशता अथवा किसी प्रकार के दबाव में कर रहा है तो प्रश्न उठता है कि क्या उस व्यक्ति को कार्य के लिये किसी प्रकार के दण्ड अथवा पुरस्कार का भागी मानना चाहिये अथवा नहीं?²

एक विधिशास्त्री की दृष्टि से जो भी कार्य किसी दबाव के अन्तर्गत किया जाता है उसके लिये करने वाले को पूर्णतः दोषी नहीं ठहराया जा सकता। न ही उसे न्यायोचित ढंग से दण्डित किया जा सकता है। इसी आधार पर कुछ विज्ञान तर्क देते हैं कि यदि सभी स्वैच्छिक कार्य किन्हीं पूर्व नियत घटनाओं (कारणों) का अवश्यम्भावी परिणाम होते हैं तो इसके लिये काम करने वाले व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं माना जाना चाहिये। जब कारणों पर उसका कोई नियन्त्रण ही नहीं है तथा कार्य उन्हीं कारणों का परिणाम है तो कार्यों में उस कर्ता का हाथ कैसे माना जा सकता है? अतः इसके लिये उसे दण्डित करना अन्यायपूर्ण है।³

कुछ इसी प्रकार की स्थिति नीतिशास्त्र की भी है। नीतिशास्त्री अच्छे तथा बुरे, ठीक तथा गलत में अन्तर करते हैं। वे बताते हैं कि हमें जो ठीक है वही

करना चाहिये तथा जो भी गलत है उसे छोड़ना चाहिये। 'हमें करना चाहिये' यह वाक्यांश तभी सार्थक हो सकता है यदि हम न केवल करणीय को कर सकने में समर्थ हों बल्कि हमारे सामने कुछ तदिभन्न परिस्थितियाँ भी उपस्थित रहें, हम जिनके अनुसार कार्य कर सकते हों अर्थात् करणीय तथा अकरणीय दोनों के उपस्थित होने पर चुनाव की स्थिति की अपेक्षा से ही 'करना चाहिये' ऐसा वाक्यांश सार्थक होता है। इस प्रकार विकल्पों की उपस्थिति नैतिकता की आवश्यक शर्त है।^४ जब हमारे सामने ऐसे विकल्प हों जिनमें से कुछ उचित तथा कुछ अनुचित प्रत्येक समान रूप से सम्भव साध्य बन सकें तो नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार तब वह चुनना चाहिये जो ठीक हो। काण्ट के शब्दों में "नैतिक चेतना का अर्थ इच्छा-स्वातन्त्र्य है"^५।

परन्तु यदि एक व्यक्ति के सभी व्यवहार अथवा क्रियाकलाप पूर्वनियत कारणों द्वारा नियमित हों तो फिर यह परिणाम निकलता है कि इस विशेष परिस्थिति में उसने जो किया वह उससे भिन्न प्रकार से वह कार्य नहीं कर सकता था। यदि उसके सभी व्यवहार एक अन्धप्रक्रिया अथवा आवश्यकता के दबाव के अन्तर्गत किये जाने हैं तो 'उसे करना चाहिये' ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा करना तो उसके लिये असम्भव ही है। यदि एक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले कार्यों के साथ एक अपरिहार्य 'करना है' जुड़ा है तो वहाँ उस बलात् के होते हुये 'उसे करना चाहिये' वाक्य वृथा व निरर्थक हो जाता है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है "नैतिक आचरण ऐच्छिक, प्रयोजनात्मक तथा स्वतन्त्रतापूर्वक चुनी हुई क्रिया है"^६।

इसी प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य गलत तथा सही में से एक का चुनाव करने में असमर्थ हो तो पाप की अवधारणा को उसके चरित्र पर लागू नहीं किया जा सकता। किसी भी व्यवहार को पापपूर्ण कहा जाने का अर्थ है कि यह कार्य अथवा व्यवहार नहीं किया जाना चाहिये था। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति को हम उसके किसी कार्य विशेष द्वारा होने वाली क्षति की पूर्ति के लिये कहते हैं तो उसका भी यही अर्थ है कि वह कार्य उसकी इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रकटीकरण है। हम उसे ऐसे किसी कार्य द्वारा हुई क्षतिपूर्ति के लिये नहीं कह सकते जिस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है।

इस स्वातन्त्र्य की अनुपस्थिति में पश्चात्ताप की भावना भी निर्मूल एवं निःचेष्ट हो जाती है। कोई पश्चात्ताप तब करता है जब वह समझता है कि उसने जो किया वह उसे नहीं करना चाहिये था। इसी में यह भावना भी

अन्तर्निहित है कि भविष्य में उस कृत्य की पुनरावृत्ति नहीं होगी। यह सारे विचार इस धारणा से जुड़े हैं “यदि मैं चाहता तो यह कार्य नहीं करता”। परन्तु स्वतन्त्रता के अभाव में यह विश्वास केवल एक भ्रम बनकर रह जायेगा। यदि इच्छा-स्वातन्त्र्य न हो तो व्यक्ति का वर्तमानकालिक पश्चात्ताप उसकी भविष्यकालिक कार्यपद्धति में कोई परिवर्तन नहीं ला सकेगा। अतः पश्चात्ताप की भावना व्यर्थ हो जायेगी। यदि फिर वही दुष्कृत्य को उत्पन्न करने वाले कारण एवं परिस्थितियाँ सामने होंगी तो उसका यह दुष्कृत्य भी पुनरावृत्त होगा फिर चाहे वह कितना भी पश्चात्ताप क्यों न करें।^{१०} इस प्रकार स्वतन्त्रता का अर्थ हुआ- “अपनी इच्छा के अनुसार इस इच्छा-प्रसर में बिना किसी रुकावट के सब कुछ कर डालने का सामर्थ्य”।^{११} परन्तु यदि इच्छा-स्वातन्त्र्य के इस प्रकार के अर्थ को मान्यता दे दी जाये तो कई वैज्ञानिक एवं दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

वैज्ञानिक मानते हैं कि इस विश्व में सर्वत्र ‘कारण-कार्यभाव’ का नियम व्याप्त है। मनुष्य प्रकृति का ही एक भाग है। अतः उसके व्यवहार के समस्त पहलू इसी नियम के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि अभी तक वैज्ञानिक मानवीय व्यवहार के समस्त पहलुओं को पूर्णतया समझ नहीं पाये हैं, तथापि वे आशा करते हैं कि विज्ञान शीघ्र ही इस दिशा में आशातीत प्रगति कर लेगा तथा उन नियमों को अनावृत्त कर पायेगा जिनके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार विशेष के कारणों पर प्रकाश पड़ेगा जिससे भविष्य में मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकेगी।^{१२} इसलिये इच्छा-स्वातन्त्र्य की कल्पना विज्ञान के इस पूर्वनियतता की मान्यता के विपरीत होने से अवैज्ञानिक है। ऐसी ही स्थिति दार्शनिक क्षेत्र में कर्मवाद के सिद्धान्त की है जो कि कारण-कार्यभाव के नियम पर आधारित है। अतः यहाँ भी इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान नहीं रहेगा।

कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार राग-द्वेष से संयुक्त इस संसारी जीव के भीतर प्रति समय जो परिस्पन्दरूप एक प्रकार की क्रिया होती रहती है उसके निमित्त से आत्मा के भीतर एक प्रकार का बीजभूत अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वही बीजभूत सुख-दुःख रूप फल देने लगता है इसे ही कर्म कहते हैं।^{१३} ज्ञातव्य है “कर्म प्रदेशों का आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही हो जाना बन्ध है”।^{१४} अथवा आत्मा और कर्मों का एक दूसरे में प्रवेश करना अर्थात् परस्पर मिल जाना बन्ध है।^{१५}

६२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

बन्ध का विवेचन इस प्रकार है—

बन्ध : - कर्मण पुद्गलों के ग्रहण एवं बन्ध के होने के साथ ही आत्मा के योग और कषाय के अनुसार पिंडीभूत पुद्गलों की, स्वभाव, काल, फल-दान और परिणाम रूप कर्मबन्ध की चार अङ्गभूत अवस्थायें निष्पन्न हो जाती हैं।^{१३} ये चार अवस्थायें क्रमशः हैं :

अ. प्रकृतिबन्ध ब. स्थिति बन्ध स. अनुभागबन्ध द. प्रदेशबन्ध।^{१४}

प्रकृतिबन्ध : जीव द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों द्वारा आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ढँकना आदि स्वभाव अर्थात् शक्ति का पैदा होना प्रकृतिबन्ध है।^{१५} यह बन्ध योग तथा कषाय के निमित्त से होता है। प्रकृति बन्ध मूलप्रकृति, उत्तर-प्रकृति तथा उतरोत्तर प्रकृति के प्रकार से तीन प्रकार का है।

. मूलप्रकृतियाँ आठ प्रकार की हैं जो प्राणी को विविध प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं :-

१- ज्ञानावरणीय २- दर्शनावरणीय ३- वेदनीय ४- मोहनीय
५- आयुष्य ६- नाम ७- गोत्र ८- अन्तराया।^{१६}

स्थिति बन्ध : प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पूर्ण होने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है। यह स्थिति बन्ध है। यह स्थिति जीवों के कषायादि परिणामों की तीव्रता-मन्दता की तरतमता के अनुसार अनेक प्रकार की होती है।

अनुभाग बन्ध : कर्मों के फल देने की शक्ति की हीनता अथवा अधिकता को अनुभाग कहते हैं।^{१७} जीव के कषाय रूप परिणामों के निमित्त से गृहीत कर्मणवर्गणा के पुद्गल रस युक्त होकर विपाक काल में उस रूप में अपना-अपना फल देकर जीव को सुख-दुःख आदि का अनुभव करवाते हैं।

प्रदेश बन्ध : ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं।^{१८} कर्म रूप पुद्गलों का आत्मा के प्रदेशों से सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध है।^{१९}

जैनदर्शन में कर्मबन्ध की दस अवस्थायें मानी गई हैं— १- बन्ध, २-सत्ता, ३- उदय, ४- उदीरणा, ५- उद्धर्तना, ६- अपवर्तना, ७- संक्रमण, ८- उपशमन, ९- निधत्ति, १०- निकाचना। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१- **बन्ध** - यह कर्म की पहली आवस्था है। इसके बिना आगे आने वाली दूसरी कोई भी अवस्था सम्भव नहीं है।^{१०} कर्मों का बन्ध होते ही वह फलोन्मुखी नहीं हो जाते। निश्चित अवधि के पश्चात् ही उसमें विपाक प्रदर्शन की शक्ति पैदा होती है।^{११} अतः कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध करना।

२- **सत्ता**- आत्मप्रदेशों से संश्लिष्ट कर्मपुद्गल जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं। इस अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुये भी विद्यमान रहते हैं।^{१२}

कर्म का उदय दो प्रकार से होता है^{१३}-

क. कर्मफल-प्राप्ति का समय आने पर उदय।

ख. कर्मफल-प्राप्ति का समय आने के पूर्व उदय = उदीरणा।

३- **उदय** - कालमर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन अथवा भोग आरम्भ हो जाना। जब बँधे हुये कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक अर्थात् कर्मदल अनुभव के लिये प्रकट होने लगते हैं, यह उदय है।

४- **उदीरणा** - जो कर्मदल भविष्य में आने वाले हैं उन्हें विशिष्ट तपादि के द्वारा उदयावलि में लाकर भोग लेना उदीरणा है। सामान्यतया जिस कर्म का उदय हो चुका है उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सम्भव होती है।^{१५}

५- **उद्धर्तना**- स्थिति तथा अनुभाग के बढ़ने को उद्धर्तना कहते हैं। यह क्रिया कर्मबन्ध के पश्चात् होती है। उदाहरणार्थ अशुभकर्म बाँधने के पश्चात् जीव की भावना यदि और अधिक कलुषित हो जाये तो बँधे हुये अशुभकर्मों की स्थिति बढ़ जाती है तथा फल देने की शक्ति भी तीव्र हो जाती है। इस प्रकार अध्यवसाय विशेष के कारण उस स्थिति के अनुभाग में वृद्धि हो जाना उद्धर्तना है। इस स्थिति को उत्कर्षण भी कहते हैं।^{१६}

६- **अपवर्तना**- अपवर्तना के द्वारा कर्मस्थिति का अल्पीकरण (स्थितिघात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।^{१७} यह अवस्था उद्धर्तना के ठीक विपरीत है। इसे अपकर्षण भी कहते हैं।

७- **संक्रमण**- जिस अध्यवसाय से जीव कर्म प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण यह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है- वह

६४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

संक्रमण है। इसके चार प्रकार हैं— प्रकृति संक्रमण, स्थिति संक्रमण, अनुभाग संक्रमण तथा प्रदेश संक्रमण।^{१८} प्रकृति- संक्रमण में पहले बँधी हुई कर्म प्रकृति वर्तमान में बँधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है।^{१९} परन्तु यह संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों में ही होती है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नहीं।^{२०} परन्तु आयुष्य कर्म की चारों प्रकृतियों में संक्रमण नहीं हो सकता। जैसे देवायु का संक्रमण मनुष्य अथवा तिर्यञ्च आयु में नहीं हो सकता।^{२१} इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।^{२२}

ज्ञातव्य है कि उदीरणा, अपवर्तना, उद्वर्तना, तथा संक्रमण ये सभी उदयावलिका के बहिर्स्थित कर्म पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म पुद्गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता है।^{२३}

८- **उपशमन-** कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा सम्भव नहीं होती, उसे उपशमन कहते हैं।^{२४} कर्म को भस्माच्छन्न अग्नि की भाँति यदि दबा दिया जाये तो वह उपशमन है।^{२५} इस अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण की सम्भावना बनी रहती है। उपशमन केवल मोहनीय कर्म का होता है।^{२६}

९- **निधत्ति-** कर्म की उदीरणा और संक्रमण के अभाव की स्थिति को निधत्ति कहते हैं। इस स्थिति में उद्वर्तना तथा अपवर्तना की सम्भावना रहती है।^{२७}

१०- **निकाचना-** आग में तपाकर निकाली गई सूइयों को घन से कूटने पर जैसे वे एकाकार हो जाती हैं उसी प्रकार कर्मपुद्गलों के आत्मा के साथ अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाने को निकाचना या निकाचित बन्ध कहते हैं। इस अवस्था में कर्म का जिस रूप में बन्ध होता है, उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना ही पड़ता है।^{२८}

कुछ विज्ञों के मतानुसार यह कर्मवाद भी इच्छा-स्वातन्त्र्य का हनन करने वाला है।^{२९} उनका मानना है कि कर्मवाद का सिद्धान्त इस परिकल्पना पर आधारित है कि प्रत्येक क्रिया (कारण) आवश्यक रूप से परिणामों (कार्यों) को उत्पन्न करने वाली है।^{३०} तथा जीव की वर्तमान अवस्था उसके पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम है तथा आज किये जाने वाले कर्म अगले जीवन का कारण बनेंगे। यह कारण-कार्य श्रृंखला यंत्रवत् चलती रहती है। इसके लिये किसी सक्रिय अथवा किसी स्वैच्छिक उद्यम की आवश्यकता नहीं होती। अतः इस प्रकार से यह

भी एक प्रकार का नियतिवाद है जो मानवीय प्रयास को पंगु बना देता है।^{४९} यह नैतिकता की प्रासङ्गिकता के विपरीत है।

वस्तुतः यह समझ कारणता के नियम तथा विवशता की अवधारणा को परस्पर गड़मड़ करने से उत्पन्न हुई है। इसलिये कुछ विज्ञों ने इसे “छद्म समस्या” अथवा “मिथ्या समस्या” (Pseudo-problem) कहा है।^{५०}

उन विद्वानों^{५१} का कहना है ‘इच्छा-स्वातन्त्र्य तथा नियतता’ का यह समस्त तथा कथित विवाद वस्तुतः पदार्थों को गलत तरीके से समझने के कारण है। वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि वास्तविक विरोध स्वतन्त्रता तथा नियतता में नहीं अपितु स्वतन्त्रता तथा बाध्यता में है। वे तर्क करते हैं कि यदि कोई नियमों की भूमिका (role) तथा विज्ञान के अनुसार कारण की अवधारणा को समझ ले तो वह तुरन्त इस बात को समझ जायेगा कि वस्तुतः कारणता के नियम की उपस्थिति तथा स्वतन्त्रता में परस्पर कोई असंगति नहीं है।^{५२}

कुछ विज्ञजनों का मानना है कि यदि कोई व्यक्ति वास्तव में जानना चाहता है कि मानव स्वतन्त्र है अथवा किन्हीं परिस्थितियों में बाध्य या विवश है तो इस प्रक्रिया में उसे पहले कारण की अवधारणा तथा सिद्धान्तों को अवश्य समझ लेना चाहिये।

जब किसी विशेष प्रकार की घटना के घटित होने के पश्चात् दूसरी घटना घटित होती पाई जाये तथा ऐसा अनेक बार हो तो प्रयोगों, परीक्षणों एवं निरीक्षणों द्वारा उन दो घटनाओं में पारस्परिक सम्बन्ध मान लिया जाता है। इसी को कारण-कार्य भाव कहा जाता है।^{५३} यह कारण-कार्य भाव दो घटनाओं अथवा वस्तुओं का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है जो साहचर्य के नियम पर आधारित होता है अर्थात् एक के होने पर दूसरा होता है तथा न होने पर नहीं होता। एक बार ऐसे सम्बन्ध का निरीक्षणों एवं परीक्षणों द्वारा पुष्टि हो जाने पर इसके आधार पर ही वैज्ञानिक समय-समय पर भविष्यवाणियाँ करने में समर्थ हो पाते हैं। यह इसलिये सम्भव हो पाता है क्योंकि वहाँ एक नियतता वर्तमान रहती है, जो बताती है कि यदि ‘अ’ होगा तो ‘ब’ भी होगा। परन्तु ‘अ’ के होने या न होने में किसी को कोई हस्तक्षेप नहीं होता। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ये नियम वैज्ञानिक बनाते नहीं बल्कि खोजते हैं। इस प्रकार विज्ञान के दृष्टिकोण से नियतता को किसी भी प्रकार से स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं मानना चाहिये। नियतता के

६६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

बिना स्वतन्त्रता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।^{५०} इसी प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता का अर्थ नियतता की अनुपस्थिति नहीं है बल्कि स्वाधीन नियतता है अर्थात् एक स्वतन्त्रकर्ता बाहर से नहीं वरन् अपने आप के द्वारा ही नियत होता है इस प्रकार कर्मवाद तथा स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं।

कर्मवाद का सिद्धान्त भी कारणता का नियम है जिसे किसी ने बनाया नहीं है, अपितु मनीषियों ने इसे खोजा है, इसका व्याख्यान किया है। यह सिद्धान्त सदा से इसी प्रकार प्रवर्तमान है^{५१} जिसके अनुसार 'यदि जीव ऐसा कर्म करेगा तो ऐसा फल मिलेगा' ऐसी भविष्यावाणी की जा सकती है। परन्तु इस कारण-कार्य की नियतता को न तो विवशता कहा जा सकता है तथा न ही कोई बाह्य-दबावा मानव के कर्म उसके स्वभाव को निर्धारित करते हैं परन्तु ये उसके अपने कर्म हैं उसकी अपनी प्रवृत्तियों को जन्म देने वाले अपने क्रियाकलाप जो भविष्य में उसे फल देते हैं।^{५२}

जैनदर्शन का जीव स्वयं अपने द्वारा कृत कर्म की श्रृंखला में बँध कर उन कर्मों के विपाक का अनुभव करता है। वह उस कारण-कार्य-नियतता से उत्पन्न बन्ध की स्थिति, अनुभाग आदि को घटाने-बढ़ाने में भी समर्थ है। यहीं नहीं अपितु जीव चाहे तो उचित पराक्रम के द्वारा कर्मों की इस श्रृंखला को तोड़ भी सकता है, छिन्न-भिन्न कर सकता है तथा इससे मुक्त भी हो सकता है।^{५३} इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनदर्शन जीव के इच्छा-स्वातन्त्र्य तथा नियतवाद का समन्वय स्थापित करता है।

सन्दर्भ सूची :

- १- S. E. Forest, The Basic Teaching of Great Philosophers, p. 56.
- २- A Modren Introduction to Ethics, p. 356, The Fress Press Glenocode, Illinos.
- ३- Ibid, p. 358.
- ४- Ibid, p. 357.
- ५- "Moral Consciousness implies freedom of will", A History of Philosophy-Frank Thilly, p. 444.
- ६- डा.डी.आर.जाटव, प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ० ३८।

- ७- Modrent Introduction to Ethics, p. 358, Illinos.
- ८- 'स्वातंत्र्य च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविधातः'- प्रत्याभिज्ञाहृदयम्
- (उपोद्घात) जयदेव सिंह, पृ० १६।
- ९- A Modrent Introduction to Ethics, p. 358, Illinos.
- १०- कर्म प्रकृति, आचार्य नेमिचन्द्र, सं० गोकुल चन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६८, पृ० २०।
- ११- जिनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- भाग-३, पृ० १६९।
- १२- पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, १.४.१४.४।
- १३- कर्म-सिद्धान्त (बिन्दु में सिन्धु), श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री तारक जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०), पृ० ५८।
- १४- (१) स्थानाङ्गसूत्र, ४.२.६३, (२) तत्त्वार्थसूत्र, ८.३, (३) कर्म-प्रकृति (आचार्य नेमिचन्द्र) सूत्र १५, पृ० ३, (४) कर्म प्रकृति (अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती) सूत्र २।
- १५- कर्म प्रकृति (अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती) सूत्र ३, पूर्वोक्त।
- १६- (१) स्थानाङ्गसूत्र, ८.३.४८२, (२) भगवतीसूत्र, ६.३.१०.२२, (३) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ८, पृ० ४, (४) कर्म-प्रकृति (अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती), सूत्र ५।
- १७- गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), पृ० ४१।
- १८- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राज०), पृ० ३०६।
- १९- गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा १८५, श्री मन्नेमिचन्द्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रामचन्द्र आश्रम, आगास, पृ० ७५।
- २०- मुनि श्री न्याय विजय, जैन दर्शन, पृ० ४५५।
- २१- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पूर्वोक्त, पृ० ३१३।
- २२- कर्म ग्रन्थ, भाग-१, मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनि मिश्रीमल, श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर (व्यावर), पृ० ६२।
- २३- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पूर्वोक्त, पृ० ३१३।
- २४- वही, पृ० ३१३।
- २५- कर्म ग्रन्थ, भाग-१, पूर्वोक्त, पृ० ६२।
- २६- वही, पृ० ६२।
- २७- देवेन्द्र मुनि शास्त्री, जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री तारक जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०), पृ० ४४५।

६८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

- २८- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पूर्वोक्त, पृ० ३२१।
२९- वही, पृ० ३२१।
३०- कर्म ग्रन्थ भाग-१, पूर्वोक्त, पृ० ६३।
३१- आचार्य श्री आत्माराम, जैन तत्त्वकालिका छठी कलिका, पृ० १८०।
३२- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पूर्वोक्त, पृ० ३२१।
३३- वही, पृ० ३२१।
३४- कर्म ग्रन्थ भाग-१, पूर्वोक्त, पृ० ६३।
३५- मुनि श्री न्याय विजय, जैन दर्शन, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, १९५६, पृ० ४६०।
३६- आचार्य श्री आत्माराम, जैन तत्त्वकालिका छठी कलिका, पृ० १८०।
३७- कर्म ग्रन्थ, भाग-१, पूर्वोक्त, पृ० ६३।
३८- कर्म ग्रन्थ, भाग-१, पूर्वोक्त, पृ० ६४।
३९- W. Schuvring, The Doctorine of the Jainas, Trans. by W. Beurlen, Motilal Banarasidas, Delhi, 1962, p. 172.
४०- Mohal Lal Mehta, Jaina Psychology, Sohan Lal Jain Dharm Pracharak Samiti, Amritsar; p. 2.
४१- Ibid, p. 4.
४२- Moriz Shick, Problem of Ethics, Tran David Ryn Publication, Newyork, p. 143.
४३- California Associates in Philosophy & P.H. Nowell Smith
४४- A Modern Introduction of Ethics, Illinos p. 353.
४५- Ibid, p. 360.
४६- Ibid, p. 353.
४७- "Freedom as everything else, involves determination and is inconceivable without it", Ibid, p. 353.
४८- सूत्रकृताङ्गसूत्र, २.२.१७
४९- Bimal Krishna, The Central Philosophy of Jainism, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1981, p. 24
५०- बुध्येत् त्रोटयेत् बन्धनं परिज्ञाय, सूत्रकृताङ्गसूत्र, (१) १.१.१.१
(२) १.१५.६

Lord Mahavira's Birthplace :

The Need for a 'Denovo' Study

Gp. Capt. V. K. Jain

This article deals with the problem of location of birth - place of Lord Mahavira. It is a sort of an evaluation of the approach to the problem taken by modern scholars. He has mainly focussed on the analysis of the Videha as term and as a geographical area, in the light of original texts and its interpretation by modern scholarship. He emphasized the need to take all available evidences collectively and analyse it thoroughly before arriving at any conclusion which has not been done yet, hence the need of a new and concerted effort on this problem.

- Editor

Introduction:

Over the past many decades and more, a number of scholars, holy persons and others have written about the actual location of birthplace of Lord Mahavira, the 24th Jaina Tīrthaṅkara. However there is no consensus on any place. Primarily there are three places which are claimed as the birthplace by different protagonists. Śvetāmbaras by and large claim that 'Kṣatriyakunḍa', a part of Kuṇḍgrām near Lichhvar in Jamui Distt. is the birthplace. The Digambaras, on the other hand traditionally claim Kuṇḍpura or Kuṇḍalpura near Nalanda as the birthplace. A third group, cutting across Śvetāmbara/Digambara divide, and primarily initiated by Western scholars like Jacobi and Hoernle believe that Kūṇḍpur/Kollaga, the birthplace was a suburb of Vaishali Gaṇatantra. There is a tendency on the part of every protagonist to claim hoary tradition attached with the place of their choice without apparently producing any concrete evidence.

The uncertainty about the places of important events in the life of any historic person is a matter of great concern. There is no such ambiguity about another contemporary of Mahavira viz, Lord Buddha. Over long periods of time, such ambiguity may even lead to doubting the very existence of Mahavira as a real person in life and blood.

The Shortcomings

A brief survey of the written material, books and articles, on the issue shows the following shortcomings:

- a. References/resources picked selectively to suit one's contention, leading to biased conclusions.
- b. Misinterpretation or wrong translation of original sources.
- c. Lack of professional knowledge.
- d. Insufficient search for all relevant material.
- e. Ignoring the context or situation in Mahavira's times.
- f. Not accounting for "Poetic exaggeration" in narration.

In this regard it is important to remember that, with passage of time, a great deal of myth starts building up around famous personalities. Greatest weightage must, therefore, be given to the sources which are chronologically closest to the event under consideration. Later sources may be given corroborative status. Similarly 'original sources' take precedence over the commentaries or secondary sources. Sometimes the latter introduce a few things which do not occur in the original. Take the case of Śaṭkhaṇḍāgama and Kaṣāyapāhuḍa. They do not contain any reference of Mahavira's birthplace but the later commentaries such as Dhavalā or Jaidhavalā do. This has to be kept in mind. Also to be kept in mind are the changes that take place in meaning of words or the changes in the geographical territories of states, or in names of places, specially when centuries elapse during the intervening period.

Interpretation of 'Videha'

One of largest single factor in contributing to the above confusion is the word 'Videha'. Traditionally it has been the name of a state with Mithila as its capital. It is also the name of an important clan amongst the 'Aṣṭa Kulas' existing in the Viji (Vajji) Gaṇatantra during Mahavira's time. Three other important clans being Jñātrik, Licchavi and Vajji. According to Jaina canon it is also one of the 'Āryadeśa' amongst the 25-1/2 Āryadeśas. Finally, it is also a word of the language assigned different meanings as follows:

- a. Vi-deh i.e. a state of total detachment from things 'physical'.
- b. Vi-deh i.e. a person with a special (Viśiṣṭa) body.
- c. An alien (Vi-deśa)

The most quoted reference where Videha has been used in Mahavira's context is Ācārāṅga Sūtra and also Kalpa Sūtra.

The word 'Videha' and its derivatives have been used five times in the following sūtra from the oldest Āgama - Ācārāṅga (Sūtra 746, Beawar Publication), 3rd century BC. It has been repeated almost in the same words in Kalpasūtra (Sūtra 110, Kalpasūtra, Prakrit Bharati Jaipur).

***Samaṇ Bhagvam Mahavira, gnate, gnatputte,
gnaykulvinivatte, Videhe,***

***Videhdinne, Videlyacche, Videinsumale, teesam vasaain,
videlhe tii kattu***

Here the word 'Jñāta' clearly indicates the patriarchic clan or the 'kula' of Mahavira. This is undisputed. However, it is the word 'Videha' and its derivatives which need to be examined in depth since these have been translated variously. Take for instance 'videhjaccae', In the Beawar edition of Ācārāṅga, it has been translated as the son of 'Videhdatta' although jacca' primarily

means superior or 'Śreṣṭha'. In the same edition while translating 'Videhahsumale', Videha has been translated a 'a person with special or viśṣṭa' body. Dr. Sagarmal Jain, translates 'Videhjacce' as born in Videha, a geographical region. Similarly he translates 'Videhdinne' as the son of 'Videhdinna' which is one of the names of Mahavira's mother; Triśalā. He has not examined as to why Triśalā was called 'Videhdinna'. Is it because she hailed from 'Videha region' or Videha clan', or for that matter because she was given away to, or given away by 'Videhans' in marriage dinna is prakrit of datta (having given). Being the sister of Chetaka the Licchavi ruler of Vaishali, her paternal clan could only be Licchavi.

Videha as a Geographical Area

We next come to 'Videha' as a geographical region. It is noteworthy that chronicles of that period donot mention 'Videha' as one of the 'Janapadas'. Both 'Aṅguttar Nikāya' and 'Bhagvatī Sūtra' mention sixteen Jana / Mahājana padas. Although they differ in detail, Vajji is mentioned by both and Videha is absent in both. If it was the Videha region which was later termed as Vajji, then why 'Videha' has been used instead of 'Vajji' in Mahavira's context?

Mahavira as per the narrative in 'Sthānāṅga Sūtra' spent four 'varṣāvāsa' at Mithila and quite a few at Vaishali clearly indicating Mithila as a distinct place, which, in various contemporaneous literature is mentioned as the capital of 'Videha'. Vaishali, before it became an independant 'Gaṇatantra', is also mentioned as the capital of 'Videha' at other places. At some places, Mithila has been used for a kingdom of which Vaishali became a part. All these point to the prevailing confusion about geographical territories.'

Chronicles of that time mention 'Videha' as a clan, being one of the 'Aṣṭa Kulas'. Then where was their territory? It could not have been the area with Vaishali as its capital, because that was a 'Licchavi' stronghold where 'Cheṭak brother of Triślā held away.

Some of the authors have quoted 'Śakti Sangam Tantra (Sundarī Khaṇḍa) and Brhadviṣṇupurāṇa (Mithilāmahātmya, 2/5) to define

the boundaries of 'Videha' from the Ganges to the Himalayas and from, Gandaki to Champaran etc. and the grand status of Mithila, its capital. If Videha was such a great kingdom at the time of our consideration i.e. Mahavira's birth, then how come it does not find a place in the chronicles relevant to that period. Does this Videha really belong to Mahavira's time or it is the land of some other period? Even if we assume that Mahavira was born and brought up in Videha, there is a need to establish beyond doubt the boundaries of this Videha at the time of Mahavira's birth.

In view of above, our linguists need to clearly establish the meaning of each of the Videh derivatives in the above text from Ācārāṅga Sūtra (No 746-Ach 2/15) repeated more or less in the same words in Kalpasūtra (No 110) and we also need to establish whether a state called Videhā existed at that time and what were its boundaries, capital etc.

We similarly need to examine Kṣatriyakunḍa a part of Kuṇḍagrama, where Mahavira is considered to have been born by Śvetāmbaras. Jamāli, the son-in-law of Mahavira, is stated to be a prince of Kṣatriyakunḍa who renounced the world alongwith 500 other princes. Did Siddhartha, the king of Kuṇḍagrāma have his seat of power at Kṣatriyakunḍa a suburb of Kuṇḍagrām and Jamāli was the son of the Chieftain (called Raja) of this suburb "Kṣatriyakunḍa"? And also the possible derivation of the name 'Licchud from the clan Licchavi which was greatly decimated during the 12 years war waged upon Vaishali by Kuṇika (Ājātśatru) the king of Magadh and son of 'Śreṇika' (Bimbisar). May be some of the Licchavis migrated to the place which came to be known as Licchud due to their presence.

Various texts mention the birthplace as Kṣatriyakunḍa, Kuṇḍapur, Kuṇḍal, Kuṇḍalpur etc. The earliest literature, Ācārāṅga, etc refer to it as Kuṇḍapurgram Nagar also. We need not necessarily be carried away by grandiose description of the kingdom of Siddhārtha

or that of Kuṇḍapur because of the well-known phenomenon of “Poetic exaggeration”.

Conclusion

We can say that, so far, various relevant facts such as descriptions of Mahavira’s sojourns, accounts of topography/area, archaeological finds, meanings attached with various words, etc. have been used in isolation. It is necessary to take all available evidence collectively and analyse it thoroughly before arriving at any conclusions.

The Jaina community owes it to itself to muster a team of specialists in various disciplines such as History, Archaeology, Linguistics and Jainism. This team of independent experts must scout all the available literature, Jaina and others, rate it chronologically and match it with evidence available through other sources such as archaeological, topographic/geographical, similarity of modern place names etc. There is no doubt that if an honest attempt is made we should be able to zero on to a single place as the most likely place of Mahavira’s birth.

References

1. Kalpa Sutra - Pub: Prakrjt Bharati - Jaipur
2. Ācārāṅga - Beawar
3. Pt. H. L. Dubey Jain, Śramaṇa Bhagavāna Kā Janamasthāna, Prachin Sahitya Prakashan, Delhi.
4. Dr. Rishabh Chand Faujdar, Bhagavāna Mahavira Ka Janmasthanā.
5. Aryika Chandanamati, Bhagavāna Mahavira Kī Janmabhūmi, Kuṇḍapur - Ek Vāstavika Tathya.
6. Dr. Sagarmal Jain, Bhagvāna Mahavir Ke Janma, Kaivalya Evarṁ Nirvāṇa Sthal - Tithayar-29/2 and Tuisi Prajna.
7. Prof. Yogendra Misra, Bhagvāna Mahavir Ki Janma Bhūmi - Vaishali, Brahmcharini Pandita Chandabai Abhinandan Granth, 1954.

Contribution of Śramaṇas to the Indian Tradition of Exegetical Literature

Dr. Rajesh Ranjan

This article deals exhaustively and systematically in historical perspective with the origin and evolution of enormous exegetical literature, available on the scriptures, of Jaina and Buddhist tradition, written in Ardhamāgadhī and Pali. The author has given the salient features of these commentaries, period of their writing along with their languages. The author has quoted the ancient as well as modern authorities to substantiate his view. He has also given as illustrations the names of the texts on which a particular type of commentary has been written. –Editor

What is known as Indian Culture today is the sum total of the contributions made towards the enrichment and betterment of each and every sphere of life by the two ancient Indian traditions of recluses i.e. Śramaṇas and Brāhmaṇas. Giving much credit to one and ignoring the contributions of the other is unfair and unjust. Whether it be the field of Art and Architecture, Language and Literature, Knowledge and Philosophy and so on and so forth, the contributions made by the Śramaṇas are in no way less than the Brāhmaṇas. However, keeping in mind the time and space at our disposal a humble attempt has been made to delineate and discuss the unique contribution of the Śramaṇa tradition, Buddhism and Jainism occupying the foremost place there, towards the development of Indian tradition of exegetical literature in Pali, Prakrit, Apabhraṁśa and Sanskrit languages.

Origin of Exegetical Literature

Origin of exegetical literature in Indian tradition is almost as old as the literature itself. It is, therefore, natural that the Brāhmaṇic, the Jaina and the Buddhist religious literature possess enormous of exegetical literature for their respective canons in Sanskrit, Prakrit and Pali. The most popular and standard denominations such for

literature are Nijjuti Bhāṣya, genre of and Aṭṭhakathā respectively. Ṭīkā is another term for commentarial literature of the type of gloss prevalent commonly among them. Cūrṇi, a term used for a special type of this literature is peculiar to the Jainas alone. Vṛtti is again a term common to both, the Brāhmanic and Jaina traditions, used for exegetical literature of a special nature. Bhāṣya literature is available in large quantity in the Jaina tradition as well.

The Aṭṭhakathā is the most popular and standard term used for exegetical literature in Pali. Besides it, the term used for such literature are Vibhaṅga (descriptive exposition), Niddesa (exposition), Veyyākaraṇa (explanation), Vaṇṇana (description), Attavaṇṇana (description of meaning), Atthasamvaṇṇana (description of meaning fully), Ṭīkā (gloss), Anuṭīkā (sub gloss) etc.

Exegetical Literature of the Jainas

So far as the evolution of the exegetical literature on the Jaina canons is concerned, Prof. Kapadia² seems to have surmised as under—according to the Jaina tradition, the Gaṇadhara compose dvādaśāṅgīs, and each of them teaches his own dvādaśāṅgī to his pupils. Consequently, while doing so, each must be offering some explanation or other, at least regarding knotty points. But, strange to say, there seems to be no record maintained regarding these explanations of the dvādaśāṅgīs. This state of affair exists not only in connection with the dvādaśāṅgīs composed prior to the birth of Lord Mahavira, but also in the case of the eleven dvādaśāṅgīs composed by his own eleven Gaṇadharas. He, further remarks “A student conversant with the Jaina system of education knows it fully well that first of all, the meaning (attha) of a sutta is explained, then is given an explanation associated with Nijjuttī, and this is followed by a detailed exposition which is not necessarily confined to what is explicitly expressed in the sutta.” Finally he infers “a similar process must have been followed at least by the eleven Gaṇadharas of Lord Mahavira. This means that several types of literature may have been then evolved.”³⁹

From this conjecture of Prof. Kapadia about the evolution of the exegetical literature of the Jainas, it is evident that the most ancient and popular name given to the exegetical literature of the Jainas thus evolved is Nijjuttī. M. Winternitz⁴, who calls Nijjuttīs as “concise metrical explanations”, seems to have supported Prof. Kapadia’s views as regards the process of evolution of the exegetical literature of Jainas and the Nijjuttī type of the explanatory literature being the earliest in the following words, “It may be assumed as certain that, long before the final compilation of the canon under Devarddhi, the Jaina monks began to write explanations of the sacred texts. The earliest commentaries, the Nijjuttīs or Niryuktis, are in some instances very closely interwoven with the Sūtras, or they even supplanted the latter. The Pinḍa-Nijjuttī and the Ogha Nijjuttī appear in the canon itself and the Ogha-Nijjuttī is even supposed to have been taken from one of the Pūrvas.⁵”

Out of the several meanings and definitions of the word Nijjuttī extant in the Jaina texts, the meaning of Śīlaṅka Sun occurring in his Nijjuttī on the Āyārāṅgasuttam seems to be most appropriate which is as follows - “The art of interpretation of the meaning with certainty is known as Niryukti.⁶” Prof. Kapadia⁷ introduces the Nijjuttī literature as. “For, the very first type of the Jaina explanatory works on the Āgama which form a part of our valuable legacy, is known as Nijjuttī in Prakrit and Niryukti in Sanskrit, and that its authorship is attributed to Bhadrabāhusvāmin, who died in Vīra Saṁvat 170. He has composed ten Nijjuttīs.⁸ But we do not know their specific names except those like Āvassayanijutti etc., coined by taking into account the work of which it is the Nijjuttī. Further, we do not know the exact dates of their composition. All the same, we may say almost with certainty that none of them is composed after Vīra Saṁvat 170.”

The Nijjuttīs, consist of very concise explanation in Āryā-verses and are Jaina-Maharastri. These are probably verses, which served

as an aid to the memory of the teachers in their oral interpretation of the sacred texts.⁹

Nijjuttī was followed by Bhāṣya, a name given to a new type of explanatory literature written in Prakrit verses; and Cuṇṇī, a designation for a special type of such literature written in Prakrit, sankrit mixed and peculiar to the Jainas alone. Bhāṣya and Cuṇṇī, in turn, gave rise to descriptive types of explanatory literatures written in Sanskrit on Prakrit texts known as Ṭikā and Vṛtti. M. Winternitz infers the same.¹¹ It may also be noted that there is intermixture of some of the verses of the Bhāsa with those of the Nijjuttīs. For example, some verses belonging to its Bhāsa are also seen in the Āvassayanijjuttī. Similar is the case with Dasaveyāliyanijjuttī and Kappanijjuttī in which some verses of their respective Bhāsas have been incorporated in the corresponding Nijjuttīs.¹² Besides, a work like Pañcakappa seems to have been carved out both from the Kappanijjuttī and Kappabhāsa as it consists of gāthās taken from the Nijjuttī and Bhāsa on the Kappasuyam respectively. “Under these circumstances” remarks Prof. Kapadia¹³ almost all the extant Nijjuttīs and Bhāsas may be defined as- “Nijjuti contains verses really belonging to it and some of the corresponding Bhāsa consists of verses which legitimately belong to it, and, in addition it has some verses of the relevant Nijjuttī as well; but the former exceed the latter in number.”

That Nijjuttīs and Bhāsas, i.e. versified commentaries on the canonical texts and this common feature of the Nijjuttī and Bhāsa literature, i.e. being composed in Prakrit verses, became, instrumental for their intermixture is explicit enough from the foregoing discussion.

It may be noted that Bhāsas are, very likely, older than the Cuṇṇīs. Bhāsa is called Gāhā, while Cuṇṇī is known as Paribhāsā. Cuṇṇīs were written at least on twenty Āgamic texts, in some cases, there being two Cuṇṇīs. As for example, Nīśiḥa and Jiyakappa possess two Cunnis each. Jinadasa Gaṇi, the author of Nisihavisesacuṇṇī

also refers to the name of his vidyaguru, Pradyumna Kṣāmāśramana along with his own name as its author. The Cuṇṇis on Anuyogaddāra, Dasaveyāliya, and Uttarājjhayana appear to have been written by Jinadāsa Gaṇi Mahattara. The Cuṇṇi on various Āgamas are believed to have been written in the period commencing from the fourth century to the eighth century of the Vikrama Era.

Before dealing with the Ṭikā, we may note that out of the terms Nijjuttī. Bhāsa and Cuṇṇi, the first does not appear to have been used for a commentary on any of the non-Āgamic texts. Such is not however the case with Bhāsa and Cuṇṇi; for these are used for other works too, though seldom. Thus, it will be seen that the non-Āgamika works of which the commentaries are styled as Bhāsa, and Cuṇṇi are few and far between, and at least, so far as the Śvetāmbara literature is concerned, these terms seem to have been used for works of sufficient antiquity.”¹⁴

Kapadia¹⁵ sums up his discussion on the evolution, development and the fundamental as well as the most distinguishing features of the different types of the exegetical literature in following words, “All the Nijjuttīs attributed to Bhadrabāhusvāmī must have been concise and written in gāthās as can be inferred from the eight printed ones. They were surely compiled before the redaction of the Jaina canonical works.¹⁶ It is certain that these Nijjuttīs were later on followed by several other commentaries. Out of them the two types of commentaries known as Bhāsa and Cuṇṇi seem to be the oldest. After their composition, there came an age when the commentaries began to be freely composed in Sanskrit, thus making the exegetical literature on the Āgamas of the Jainas of four type: (1) Nijjuttis, (2) Bhāsa, (3) Cuṇṇī and (4) Ṭikā. I use this last word to denote Sanskrit commentaries. These Nijjuttīs etc. are mostly in the chronological order of development. For, Cuṇṇī seems to be an intermediate stage between Bhāsa on the one hand and Ṭikā on the other, on the ground that it is neither entirely in Prakrit like its predecessors Nijjuttīs and Bhāsa, nor mostly or completely in Sanskrit like its successor Ṭikā; but it is a mixture of Prakrit and

Sanskrit so much so that not only one and the same sentence contains portions written in two languages, but even a Sanskrit stem has Prakrit terminations at times, Cuṇṇī is written in prose, and this is another respect in which it differs from Nijjuttī and Bhāsa. Bhāsa is styled as Gāhā, too, since it is composed in gāthās in Prakrit.

Besides, there are (1) Vṛtti, (2) Vivṛti, (3) Vivaraṇa, (4) Vivecana, (5) Vyākhyā, (6) Vārtika, (7) Dīpikā, (8) Phakkikā, (9) Avacūri, (10) Avacūrṇi, (11) Arthalava, (12) Akṣarārtha, (13) Bālāvabodha, (14) Pañjikā, (15) Ṭippanaka, (16) Paryāya and (17) Chāyā types of commentarial literature on Agamic as well as on non-Agamic texts.

Exegetical Literature of the Buddhists

So far as the origin of the Buddhist commentarial literature is concerned, it led us to the fact that the need for an accurate interpretation of the Buddha's teachings, the guiding principle of life and action of the members of the Saṅgha, was felt from the very beginning while the Master was alive. During the life time of the Buddha there was the advantage of referring a disputed question for solution to the Master himself (and herein we met with the first stage in the origin of the comments). But after his Parinibbāna, the chief and revered disciples were used to be approached for dispelling the disputes and their comments must have been considered decisive and authentic and hence they were no doubt preserved orally by the disciples from generation to generation. When the commentaries were compiled these oral comments were embodied in the great Atthakathas of Sinhala, which have been quoted by Buddhaghosa in his commentaries.

The lineage of the exegetical literature of the Therāvada Buddhism, which starts right from the lifetime of the Buddha, was pursued and cultivated in the Buddhist Vihāras for a pretty long time. Naturally, marked with vast differences in methodology, style and technique of treatment, the exegetical literature contains a number

of strata, which are named according to the group or time to which they belong. Thus Vibhaṅga, Niddesa, Veyjyākaṛaṇa, Vaṇṇana, Atthavaṇṇana, Atthasamvaṇṇana, Ṭīkā, Anuṭṭīkā etc. are the terms, which were coined by the commentators from time to time to name their respective works.

Veyyākaṛaṇa

From the Aṅga point of view, the entire Buddhavaṇṇana are of nine types. Veyyākaṛaṇa occupies the third place in this classification, the other two preceding it being Sutta and Geyya. As its spelling differs from Vaiyākaṛaṇa, the derivative of the word Vyākaṛaṇa, it should not mean grammarian or pertaining to grammar. It, however, seems difficult to arrive at the etymological meaning of the term, as Ācārya Buddhaghoṣa too does not lay his finger on it. He only defines it as follows, "The entire Abhidhammapīṭaka, the suttas which are without verses and all remaining Buddhavaṇṇanas which are not included in any of the eight Aṅgas should be regarded as Veyyākaṛaṇa'.¹⁶ It may be noted that Brahmajālasutta designates itself as Veyyākaṛaṇa at the end.¹⁷ Dr. Law is inclined to include Cullavedalla and Mahavedalla Suttas of the Majjhimanikāya in the group and he points out two layers of Veyyākaṛaṇa as Suttantabhajanīya and Abhidhammabhajanīya'¹⁸

Vinicchaya

There is one more term used in the sense of brief exposition. That term is Vinicchaya, which is appended by Buddhadatta to the title of his works on the Vinaya. It seems to have been formed by adding the prefix 'vi' to the term "nicchaya" (Skt. Niscaya). The term Vinicchaya is seen used in the Pali canon in various contexts, of which the following few may prove purposeful in so far as our attempt to ascertain its meaning is concerned. Firstly, it is used in the sense of 'thorough knowledge' as in 'Papakamma-vinicchaya' and secondly, in the sense of decision or ascertainment as in 'lābhaṃ paticcavinicchayo, vinicchayam paticca chhandarago'¹⁹. As Buddhadatta's works, namely, Vinayavinicchaya and

Uttaravinicchaya explain, though briefly, but in a convincing manner, the rules of the Vinaya, specially the rules of the Pātimokkha, the term Vinicchaya seems to denote a special type of commentarial literature written in verse. In this way though Buddhadatta introduced writing commentaries in verse successfully, it could not be popular so far as Pali literature is concerned.

Vibhaṅga

The term Vibhaṅga, which is, very likely peculiar to the Buddhists alone, seems to have been coined by adding Vito the term Bhanja, Bhang or Bhaja meaning to break up or divide.²⁰ Accordingly, the term Vibhaṅga may be said to stand for a detailed exposition of a promulgation or statement of the Buddha by breaking up or dividing its component parts fully. In order to substantiate this meaning, a brief mention of the Vibhaṅga literature of the Pali Tripiṭaka would be most desirable. It may be noted that the Vibhaṅga type of literature is more or less seen in all the three Piṭakas. Vibhaṅga or Sutta-vibhaṅga is name of one of the three main divisions of the Vinayaṭiṭaka. Similarly, the fourteenth Vagga of the Majjhimanikāya²¹ consisting of twelve suttas (131-142) and six Suttas of the Samyuttanikāya²² are named as Vibhaṅga and Vibhaṅga sutta respectively. So also the second book of the Abhidhammaṭiṭaka is entitled Vibhangappakaraṇa. When examined, one would find that the former is exegetical literature in the true sense of the term, while the rest appear to be simply interpretatory literature. Accordingly, one would be constrained to be satisfied with the observations of G. P. Malalasekera with regards to both Vibhaṅga as exegetical literature and Vibhaṅga as interpretatory literature. “Vibhaṅga” remarks Mr. Malalasekera.²³ “The collective name for two closely connected works of the Vinayaṭiṭaka, which, in manuscripts, are generally called Parajika and Pacittiya. The collection is considered to be an extensive treatise on the Pātimokkha rules, giving the occasion for the formulation of each rule, with some explanation or illustration of various terms

employed in the wording of the rule. The rule is sometimes further illustrated by reference to cases, which come within it, and to others, which form exceptions to it. The collection is also called Sutta-vibhaṅga and is divided into two parts, the Bhikkhuvibhaṅga and Bhikkhuṇi-vibhaṅga.”

The second book of the Abhidhammapiṭaka is known as Vibhaṅgappakaraṇa. As regards it Malalasekera again opines. “It deals in a general way with the different categories and formulas given in the Dhammasaṅgaha, though different methods of treatment are used. The book is divided into eighteen chapters, each of which is called a Vibhaṅga. Each chapter has three portions: Suttatabhajanīya, Abhidhammabhajanīya and Paṇhapucchā or list of questions. The commentary on the Vibhaṅga is called Sammohavinodini”.²⁴

Niddesa

The term Niddesa is the name of a commentarial work ascribed to Sāriputta. It is included in the canon as the eleventh book of the Khuddakanikāya. Rhys Davids, without suggesting any etymology of the term gives two meanings as follows -

(a) Description and

(b) Descriptive exposition by way of question and answer.

The Niddesa, which explains certain suttas of the Suttanipāta, consists of two parts – Cullaniddesa and Mahāniddesa. The former contains exposition of the Khaggavisāna sutta of the Uragavagga and the sixteen Suttas of the Parayanavagga, while the latter comprises comments on the sixteen Suttas of the Atthakavagga. It may be noted that the Cullaniddesa deals, on the one hand, with the third Sutta of the first Vagga (Uragavagga) and also comments on the sixteen Suttas of the last Vagga, i.e. the Parayanavagga, on the other. But it is really surprising as it does make no mention of the fifty six introductory verses (Vatthugāthā) prefixed to the Parayanavagga. These aspects of the Niddesa prompted

Malalasekera to suggest, “that at the time the Cullaniddesa was written, the Parayanavagga was a separate anthology and that the Khaggavisānasutta did not belong to any particular group. Similarly with the Mahāniddesa and the Atthakavagga.²⁵ “In case his suggestion is accepted, then the Suttanipāta, at the time of the composition of the Niddesas, comprised of the eleven Suttas of the Uragavagga, fourteen Suttas of the Cullavagga and twelve Suttas of the Mahāvagga only. Minus the Vatthugāthā, the Parayanavagga formed an independent anthology and so also Khaggavisānasutta. Whatever have been the size of the Suttanipāta and whether the Pārāyanavagga formed a separate anthology or not, it is at least certain that the Niddesa literature is one of the earliest types of exegetical literature which was, in due course, incorporated in the canon. Malalasekera not only subscribes to this view but also points out the sources of the Niddesa when he remarks - “The comments in the Niddesa seem to have been modeled on exegetical explanations such as are attributed here and there in the Piṭakas to Mahakaccana and Sāriputta.²⁶”

Aṭṭhakathā

The word Aṭṭhakathā has been formed by adding the term Kathā to the Aṭṭha (also Pali aṭṭha, Skt. artha), the term aṭṭha carrying the sense of ‘meaning’ and the term Kathā ‘story’ or ‘episode’. Thus the word Aṭṭhakathā does not stand for a simple exposition. On the contrary, it is a word conveying the sense of elaborate exposition of a Sutta (Skt. Sūtra = a condensed statement) or an intricate point with a detailed account of events revealing it’s meaning with reference to it’s all aspects fully. Buddhaghoṣa implies this meaning or definition of the word when he declares, “With a view to make the meaning intelligible, I shall relate stories regarding those Suttas whose meaning is feared to be unintelligible without them.”²⁷ In the last lines of his prologue to the Sumangalavilasini, he defines Aṭṭhakathā as below, “The Atthakatha on the four Nikayas are to be read with reference to the Visuddhimagga, as many important philosophical issues which came up in the former have been

elaborately explained in the latter.²⁸ Thus in the light of this acknowledgement Buddhaghōṣa's comment, - "Commentators have often digressed in the course of their explanations and various narratives and episodes have found their way into the commentaries," seems to be unwanted.

It is the literal meaning of the word Aṭṭhakathā. Let us try to find out its special meaning or its use or meaning that is generally implied or followed. As it will help us a lot in arriving at the right implication of the word Aṭṭhakathā, it is advisable to quote the following - "Although Aṭṭhakathā refers to all commentarial literature, as it did during the Anuradhapura period (third century B. C. – tenth century A. D.) when it had even a wider application and included all literary works other than the Tripiṭaka, today it is used when referring to the commentaries on the Tripiṭaka."²⁹ The sentence implies to say that while formerly all literary works other than the Tripiṭaka came under its purview, today it refers to the commentaries on the Tripiṭaka only. It is to be noted that it's first meaning or definition is based on it's meaning as it comes in the Saratthadipani - "Aṭṭhakathā is that which states the meaning." As such it has been interpreted as "a general term meaning exposition of the sense, explanation, commentary." But truly speaking, now-a days, it stands for the meaning just pointed out above. Thus, the word Aṭṭhakathā had/has been an epithet used as a name given to exegetical literature on an individual text or a group of texts belonging to the same discipline. Not only the commentators or compilers of the Sihalaṭṭhakathā always remained vigilant to maintain this tradition, but Buddhaghōṣa also stuck to this practice as he did not name his work Visuddhimagga as Aṭṭhakathā even though being the outcome of the exposition of two verses from the Samyuttanikāya. The name Pātimokkha-aṭṭhakathā, Jataka-aṭṭhakathā, and Vibhaṅgappakaraṇa-aṭṭhakathā; and Vinaya-aṭṭhakathā, Suttata-aṭṭhakathā and Abhidhamma-aṭṭhakathā may be put forward as illustrations. The first three as examples of exegetical literature on the specifically named texts and the next three on group

of texts belonging to the same discipline. So also Buddhadatta does not designate two of his works-Vinayavinicchaya and Uttaravinicchaya, as aṭṭhakathā, for they deal with the Vinaya in general, rather than being a commentary on one or the other text of the Vinaya; while he calls his treatise Madhuratthavilāsini aṭṭhakathā as it is a delineation on an specified text, the Buddhavaṃsa. Thus it is clear that the Aṭṭhakathās are the expository treatises on the different individual texts of the Pali canon, each text having its own commentary. Moreover, the Aṭṭhakathās are distinguished from Bhāṣyas in Sanskrit literature in more than one respect. The later bring out the intended meaning by exclusively explaining the meaning of words. If we take for example the commentary of Sāyaṇācārya it will be clear that the usual method followed by him in bringing out the meaning is to explain the meaning of words by giving synonyms quoting from Yāska's Nuruḥka. The second is to refer to the rules of Pāṇini and to Uṇādisūtras in order to explain the formation of words. The third method followed very rarely is to refer to the Varants in the text. Sāyaṇācārya adopted this method in his famous commentary on the Ṛgveda. In later times the celebrated commentator Mallinātha also followed, more or less, the same method and while giving a list of synonyms he quotes from Amarakoṣa, Halāyudha and other cognate works. (Suttanipata A, II, Intro. P. 111)

Reference :

1. According to the tradition preserved in the Tamil literature Śramaṇa represents three sects, viz. Anuvādins (Pakudha-Kaccayana's sect), Ajivikas (Ajivaksa) and Jams. Quoted from The Cultural Heritage of India, Vol. I, p.389.
2. "Atham bhasati araha suttam ga.nthamti ganahara niunam. Sasanassa hiyatthae tao suttam pavattati." Quoted in Nandisutra - Anuyogadvarasutra from Avassaya-Nijjuttī - k 92
3. H CL J, p. 171
4. H I L, ii, p. 444
5. H CL J, p. 172

6. "Niacayenarthapatipadaḥca Yuktinniryuktih." Other meaning and definitions come thus in different Jaina texts:
 - (a) "Nijjuttī the attha jam baddha tena hoi nijjuttī. Tahavi ya icchavei, vibhasium suttaparivadi."
 - (b) "Jam nicchaya nUjutta, sutta attha imie vakkhaya. Tenyam nijjuti, Njjuttatthabhihano." - Visavassaya
 - (c) "Niryuktayuktiriti vacyeyuktasabdaloṇṇaniryuktih," - Haribhadrasuri's commentary (p. 2b) to Dasaveyaliya and its Nijjutti.
 - (d) "Nitaram yuktah - sutrena saha lolibhavena sambaddha biryukta arthastesam yuktih - sphutarupatapadanam, ekasya yuktasabdasya loṇṇaniryuktih." - Maladharin hemacandra Suri's commentary (p. 258b) to Anuogadvara (s. 151)
 - (e) "Na vaso avaso avasassa kammamcwasyam ti bidhabba. Jutti tti uvaya ttiya niravayava hoti nijjutti." - Mulayara, S. 515
7. H C L J, p. 172
8. Nijjuti is on only eight canonical texts namely, Avassaya, Dasaveyaliya, Uttarajjhayana, Ayara, Dasasuyakkhandha, Kappa, Vavahara and Nisitha are believed to have been written by Bhadrabahusvamin.
9. H I L, 11, p. 464
10. Vide H C L J, p. 186-87
11. H I L, 11, P. 464
12. Vide H C L J, p. 183
13. Vide Ibid, pp. 172-73
14. "H C L J, p. 444
15. 1511 C L J, II, pp. 186-87
16. Sakalampi abhidhammapitakam, niggathakam suttam, yam ca annam pi atthahi angehi asangahitam buddhavacanam, tam veyyakaranam ti veditabbam. D N A, I, p. 26
17. 17 Vide D N, I, Brahamajalasutta.
18. 18 L W B, p. 58
19. Vide PED
20. Vide P E D, cf. Vibhanga p. 629
21. OP. Cit., 187-257
22. SN, II, 2f, V, 8f, V, 183f, V, 196f, V, 209f, V, 276f. Out of these two observations, the first seems to be an ideal example of Vibhaṅga as exegetical literature, while the second that of Vibhaṅga as interpretatory literature. It is because "the collection (i.e. the Vibhaṅga) is considered to be an extensive treatise on the Patimokkha rules," while the Vibhaṅga of the Abhidhammapitaka "deals in a general

- way with the different categories and formulas as given in the Dhammasaṅgani."
23. PP N, 11, pp. 887-88.
 24. P P N, II, pp. 287-88
 25. P P N,II, p. 74
 26. Ibid., II, p. 74
 27. Suttam pana attha, na vina vatthuhi ye pakasanti, Tesam pakasanatham, vatthuni pi dassayissami. Prologue to M P
 28. Majjhe visuddhimaggo, esa catunnam pi agamanam hi, Thatva pakasayissati tattha yathabhas itam att ham. Iceva halo tasma, tam p1 gahetvana saddhimetaya, Atthakathaya vihanatha, dighagamanissitam attham Ii. Prologue to S V; also Prologue to M P
 29. E B, p. 335
 30. Etthaca attho kathiyati etayati atthakatha, sayeva atthakatha thakarassa thakaram katva dukkhassa pilanatto' ti adisu viya. Op.Cit., (Srilankan ed.), p. 17
 31. E B, p. 335

Abbreviations

1. EB Encyclopaedia of Buddhism, 5 vols., Ed., G.P. Malasekera, Ceylon, Government of Ceylon, 1961-1971.
2. HCLJ History of the Canonical Literature of the Jainas, H.R. Kapadia, Ahmedabad, Sharadaben Chimambhai Educational research Centre, 2000 (Reprint).
3. HIL A History of Indian Literature, M. Winternitz, 2vols., Delhi, Motilal Banarasidass, 1990 (Reprint).
4. LWB Life and Works of Buddhaghosa. Delhi, Naga Publishers, 1976.
5. PED Pali English Dictionary, Rhys Davids & William Stede, Pali Text Society, London, 1925.
6. PPN Dictionary of Pali Proper Names,
7. SN Saṃyutta Nikāya

जिज्ञासा और समाधान

Question .Why do Digambaras and Śvetāmbaras perform their worship (pūjā) and how ?

Christopher Fleming, Fullbright Scholar (U.S.A.)

Answer. Each religion has its own code of conduct which is the essence or the heart of the religion keeping it alive. There are some essentials prescribed for Jaina house-holders. Among these worship of deity (Deva-Pūjā) is the foremost. Pūjā is usually performed in the presence of an idol of Seer (Arihanta) by offering some materials (dravya). Sometimes, it can also be performed in the absence of the idol without materials. Pūjā is usually performed in the temple in front of the idol of Seer (Arihanta) but it can also be performed at home with or without the idol. Normally when material is offered, it is called **Dravya Pūjā** and when it is performed without offering materials, it is called **Bhāva Pūjā**.

Importance of worship (pūjā)

Pūjā is the most important ritual among the idol-worshipper (Mūrtipūjaka) Jainas. Digambara and Śvetāmbara perform pūjā according to their rituals. Some differences are there but the main aim is same i.e. to destroy their karmas and to attain the liberation (mokṣa).

In Jaina religion the Supreme God (Tīrthānkara) is not the ultimate cause of creation, maintenance and destruction of the world. The Seer neither pleases nor angers. Therefore he neither gives blessings to the worshipper nor punishes anyone out of anger. According to Jaina religion Paramātmā (Arhanta, Siddha) is the supreme spirit reaching the ultimate state of spiritual evolution by gradual destruction of karma through penance etc. Each Ātmā becomes Paramātmā and sustains its individuality. Paramātmā has nothing to do with the worldly life.

Reason of worship (pūjā)

Why do Jainas worship their Tirthankaras etc? They claim that Tirthankaras are desireless. They are Vitarāgī (detached). Worshipers worship them not to fulfill their worldly desires. Worldly desires of the worshiper are automatically fulfilled owing to the destruction of karma.

Method of worship (pūjā)

Now we have to discuss how Digambara and Śvetāmbara perform pūjā? First of all worshippers take bath. After taking bath they go to the temple for pūjā and put on their special purified clothes which are usually kept in the temples. Before entering the temple one must wash one's hands and feet. Having entered the temple one should ring the bell slowly and utter three times 'Nissihī' (renunciation), three times 'Om' and three times 'Namoastu'.

Then after the recitation of 'Namokara Mantra' for the three times and bowing before the idol one should make circumvallation around the altar (vedi) in clockwise direction.

Idol worshippers of both the Jaina sects (Digambara and Śvetāmbara) perform their pūjās. Though their methods of pūjā differ to some extent yet their aim is the similar. In both traditions pūjā is the most important ritual.

According to Śvetāmbara tradition worship is offered in three different ways-

- (1) First worship is called **Aṅga-Pūjā**, this is done by anointing for different path of an idol or Arihanta with water, sandal wood and flowers.
- (2) Second worship is called **Agra-Pūjā**, which is done by placing, incense, lamp, rice, fruits and sweets in front of idols.
- (3) Third worship is **Bhāvapūjā**, which is done by Caitya Vandanā.

Note : The first and second worships are called **Draya Pūjā** (Material Worship). These two pūjās collectively together are called

Aṣṭa Prakāri Pūjā. The Aṣṭa Prakāri Pūjā is done by offering eight different types of substances.

Jain pūjā symbolizes various aspects of our religion. There are different types of pūjā being performed at the occasion of various religious ceremonies.

The following eight materials are used in performing pūjās in both traditions—

Śvetāmbara Tradition

- (1) Jala (Water) pūjā
- (2) Candana (Sandal wood) pūjā
- (3) Puṣpa (Flower) pūjā
- (4) Dhūpa(Incense) pūjā
- (5) Dīpaka(lamp) pūjā
- (6) Akṣata (Rice) pūjā
- (7) Naivedya (Sweets) pūjā
- (8) Fala (Fruits) pūjā

Note : Other functions are -

(1) Darpaṇa (Mirror) pūjā : Jains see the reflection of the idol on the mirror by turning their own neck. At that time they think that the God is reflecting in their heart.

(2) Caṁvara pūjā

(3) Fan pūjā

(4) Vandanā / Bhāva pūjā

(5) Āratī pūjā—Specially performed in evening, symbolizes the joy after performing all religious activities. It destroys all karmas and brings happiness.

Other Special pūjā-

(a) Snātra pūjā- It symbolises bathing of the new born tīrthaṅkaras by gods and goddesses over Meru Mountain. It is always performed prior to any pūjā. This is birthday celebration of God. Digambaras

१२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

perform this worship daily.

- (b) Pañca kalyānaka pūj (Garbha, Janma, Dikṣā, Jñāna, Nirvāṇa)
- (c) Nava pada pūjā (Five Parmeshthi, Ratnatraya and Tapa).
- (d) Bāraha vrata pūjā (Twelve vows).
- (e) Navvāṇu pūjā (99 types).

Digambara Tradition

- (1) Jala (Water) Pūjā
- (2) Candana (Water which is coloured by sandal wood) Pūjā
- (3) Akṣhata (White Rice) Pūjā
- (4) Puṣpa (Rice coloured by sandal wood) Pūjā
- (5) Naivedya (Small pieces of white coconut) Pūjā
- (6) Dīpa (Coloured pieces of coconut) Pūjā- It is a symbol of Dīpaka
- (7) Dhūpa (Incense) Pūjā
- (8) Fala (Dry Fruits) Pūjā

Note : Before starting pūjā, they perform Jalābhiṣeka or Prakṣāla of Idol and then Aṣṭa Prakāri Pūjā. After offering fruits, they offer Arghya (mixture of all the eight materials). First of all they worship Deva, Śāstra and Guru, after then worship by adoration (Jaimāla) is performed. At the end, they read Śāntipāṭha and Visarjanapāṭha.

Some Digambaras (Bīsapanthī) use green fruits, flowers and sweets also. They also perform abhiṣeka by sandal wood, mixed water, curd, milk etc. but other (Terāpanthī) use only pure water.

This bathing water is called Gandhodaka (holy water) and they touch this holy water on their foreheads and faces too. Having performed all these worships, they end with Āratī.

Other special Pūjās-

- (a) Navagraha Pūjā
- (b) Ratnatraya Pūjā
- (c) Pañcameru Pūjā

- (d) Siddhacakra Pūjā
- (e) Tīrthānkara Pūjā
- (f) Indradhvaja Pūjā
- (g) Śānti Nātha Vidhāna Pūjā
- (i) Daśa Lakṣaṇa Pūjā

Objectives of worship (pūjā) in both traditions

Now we are going to discuss the objectives of pūjā. These are-

Jala (Water) Pūjā–To remove all the karmas and impurities from soul or to get rid oneself of the cycle of birth and death.

Candana (Sandal-wood) Pūjā–To make our soul tranquil (calm) or to subside the suffering of the world (**Samsāratāpavināśanāya**).

Puṣpa (Unbroken flowers) Pūjā–To live like flowers, full of love and compassion to all worldly living beings or to conquer our sexual desires and passions which are the root cause for the accumulation of karmas.

Dhūpa (Incensed) Pūjā–To destroy the bad odor (smell) or false faith (mithyātva) and to manifest our pure soul or to destroy all the eight karmas.

Dīpa (Lamp) Pūjā–To attain the knowledge in the form of kevalajñāna (omniscience) or to destroy the darkness of ignorance and false belief (**Mohāndhakāravināśanāya**).

Akṣata (White Rice) Pūjā–Not to be born again or to end the cycle of birth, life and death .

Naivedya (Sweet) Pūjā–To attain that position where, there remains no desire for food or to eliminate the desire for food.

Fala (Fruit) Pūjā–To attain liberation, the ultimate goal of every living being.

Arghya Pūjā–(Mixture of all eight pūjā substances)- To attain anarghyapada that is mokṣa (nirvāṇa).

Jaimālā (Adoration) Pūjā–By reciting the virtues of Tīrthānkaras

१४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

to possess similar virtues in our soul.

Śāntipāṭha (Wishing peace) Pūjā– Wishing peace and happiness for all living beings.

Visarjana (Conclusion)– Asking for forgiveness for any mistake or negligence committed during the pūjā.

Ārati– To show our respect to lord.

The whole purpose of Pūjā is that by reciting the virtues of Tīrthaṅkara, Arhanta, Siddha or Parameṣṭhi, we also remind ourselves that these same virtues are also to be possessed by us and that by taking the path of Tīrthaṅkara, we also can attain the liberation.

Prof. Sudarshan Lal Jain

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

१. ISJS के अध्येताओं का जैनविद्या-प्रशिक्षण कार्यक्रम सम्पन्न

पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिसर में ४ जून २०११ से ८ जुलाई २०११ तक आई०एस०जे०एस० (इण्टरनेशनल स्कूल फॉर जैन स्टडीज) के तत्वावधान में जैनविद्या के विभिन्न विषयों पर प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित हुए। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम में कुल २९ विदेशी विद्वानों ने जैनधर्म-दर्शन का अध्ययन किया। इसमें जैनधर्म-दर्शन के विभिन्न विषयों पर प्रो० पारसमल अग्रवाल (अमेरिका) ने द्रव्य व तत्त्व-विचार एवं कर्मसिद्धान्त, प्रो० मारुति नन्दन तिवारी (वाराणसी) ने जैन प्रतिमा-विज्ञान तथा जैन कला, प्रो० सुदर्शन लाल जैन (वाराणसी) ने जैन धार्मिक अनुष्ठान, पर्व, पूजा, मंत्र, तीर्थस्थान, जैन दार्शनिक साहित्य एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार, डॉ० प्रियदर्शना जैन (चेन्नई) ने उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र, डॉ० अशोक कुमार सिंह (वाराणसी) ने जैनधर्म में सहिष्णुता और प्रो० विनय जैन (दिल्ली) ने लेश्या सिद्धान्त पर व्याख्यान प्रस्तुत किया। दिनाङ्क ८ जुलाई २०११ को इस कार्यक्रम का समापन समारोह आयोजित किया गया। समारोह के मुख्य अतिथि थे प्रो० बी० डी० सिंह, रेक्टर, का० हि० वि० वि०, वाराणसी, अध्यक्ष थे डॉ० ओम प्रकाश केजरीवाल, पूर्व मुख्य सूचना निदेशक, भारत सरकार तथा समारोह के सारस्वत अतिथि थे प्रो० कमलशील, सङ्काय प्रमुख, कला संकाय, का० हि० वि० वि०, वाराणसी। कार्यक्रम का प्रारम्भ प० पू० मुनि प्रशामरति विजय जी के द्वारा किए गए मंगलाचरण से हुआ। प्रो० सुदर्शनलाल जैन, निदेशक, ने विद्यापीठ का परिचय देते हुए सभी आगन्तुकों का स्वागत किया। आई. एस. जे. एस. के निदेशक डॉ० शुगन चन्द जैन ने कार्यक्रम की सफलता पर सन्तोष व्यक्त किया तथा आई. एस. जे. एस. द्वारा भविष्य में आयोजित किए जाने वाले विभिन्न कार्यक्रमों के विषय में अपने विचार व्यक्त किए।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए डॉ० ओ० पी० केजरीवाल ने जैनधर्म की प्राचीन हस्तप्रतों एवं महत्त्वपूर्ण अभिलेखों को सन्दर्भित किया तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये जा रहे कार्यों की सराहना की। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों को २१वीं शती के लिए अत्यन्त उपादेय बताया। मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए प्रो० बी० डी० सिंह ने कहा कि आज विदेशों में जैन धर्म काफी लोकप्रिय हो रहा है तथा उसके सिद्धान्त पश्चिम में काफी तेजी से अपनाये जा रहे

१६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

हैं। प्रो० सिंह ने कहा कि यदि भविष्य में पार्श्वनाथ विद्यापीठ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के साथ मिलकर इस प्रकार के अध्ययन कार्यक्रम की योजना बनाता है तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उसका स्वागत करेगा। आई. एस. जे. एस. का पूर्व और पश्चिम को जैनविद्या के माध्यम से जोड़ने का प्रयास सराहनीय है। सारस्वत अतिथि प्रो० कमलशील ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ आई. एस. जे. एस. के द्वारा विदेशी विद्वानों को जैनविद्या की शिक्षा देने के प्रयास को एक अभिनव प्रयास बताया और आयोजकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

कार्यक्रम का संचालन डॉ० अशोक कुमार सिंह ने तथा धन्यवाद ज्ञापन संस्थान के संयुक्त निदेशक डॉ० श्री प्रकाश पाण्डेय ने किया। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम में लघु शोध-प्रबन्ध लेखन, शोधपत्रों की प्रस्तुति एवं परिचर्चा हुई।

२. प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम का अध्यापन कार्य सम्पन्न

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त तथा अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा पत्राचार के माध्यम से संचालित प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम का अध्यापन दिनाङ्क २५ जुलाई २०११ से ३१ जुलाई २०११ तक विद्यापीठ के प्राङ्गण में सम्पन्न हुआ। डॉ० मञ्जू जैन तथा श्रीमती अमिता जैन, जयपुर से आकर विद्यार्थियों को विषय के अध्ययन के साथ-साथ परीक्षा सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध करायी। उन्होंने बतलाया कि यदि जैन वाङ्मय का सम्पूर्ण एवं विस्तृत अध्ययन करना है तो प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं की जानकारी आवश्यक है क्योंकि जैनधर्म-दर्शन के मूल ग्रन्थ प्राकृत एवं अपभ्रंश में ही उपलब्ध हैं।

३. 'जैन भूगोल : एक नवीन अवधारणा' विषय पर विशिष्ट व्याख्यान

डॉ० विमल चन्द्र जैन, सेवानिवृत्त प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय, बारा, राजस्थान, ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सभागार में १५ सितम्बर २०११ दिन गुरुवार को 'जैन भूगोल : एक नवीन अवधारणा' विषय पर व्याख्यान दिया। इसमें उन्होंने बतलाया कि जैन भूगोल प्रकृति के साथ सकारात्मक सम्बन्ध बनाने का पक्षधर है। मनुष्य की मनोवृत्तियों को ध्यान में रखकर भौगोलिक वातावरण को कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है? और उसे कैसे जीवनोपयोगी बनाया जा सकता है इस सन्दर्भ में जैनधर्म-दर्शन के सिद्धान्तों की उपयोगिता को रूपायित किया।

व्याख्यान के पूर्व विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने अभ्यागत अतिथियों का स्वागत करते हुए विद्यापीठ का परिचय दिया तथा जैन भूगोल की रूपरेखा पर जैनागमों के आलोक में प्रकाश डाला। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० आर०एस० यादव, भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, ने की। अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में उन्होंने बतलाया कि जैन सिद्धान्त आधुनिक भूगोल के अध्ययन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। इनका विश्वविद्यालयीय स्तर पर अध्ययन-अध्यापन होना चाहिए।

कार्यक्रम का संचालन एवं धन्यवाद ज्ञापन डॉ० अशोक कुमार सिंह ने किया।

४. 'भगवान् महावीर का वर्तमान समाज को अवदान' विषय पर विशिष्ट व्याख्यान

जैन विश्वभारती लाडनूँ से पधारी विदुषी समणी शारदाप्रज्ञा जी का 'भगवान् महावीर का वर्तमान समाज को अवदान' विषय पर २० सितम्बर २०११ को व्याख्यान सम्पन्न हुआ। उन्होंने बतलाया कि भगवान् महावीर के लोक-तत्त्व, उपभोग-परिभोग नियम, परिग्रह नियम परिमाण के पालन से सामाजिक विषमता का सर्वथा अन्त हो सकता है। नक्सलवाद आदि समस्याओं का भी अन्त हो जाएगा। महावीर का धर्म व्यक्तिनिष्ठ होकर भी मानव कल्याण का सिद्धान्त है। आत्मा अपने पुरुषार्थ से उच्चतम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। महावीर ने भाग्यवाद को पुरुषार्थवाद में बदल दिया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य इन पाँच व्रतों के पालन का उपदेश दिया। भगवान् महावीर ने मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को संयमित करने का भी उपदेश दिया। भगवान् महावीर ने त्याग को पूज्य बताया, ऋद्धि और समृद्धि को नहीं। सामाजिक-व्यवस्था में जाति-पाति के आधार का खण्डन किया।

कार्यक्रम के अध्यक्ष थे प्रो० आर० सी० पण्डा, सङ्गय प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान सङ्गय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा मुख्य अतिथि थे प्रो० कृष्णाकान्त शर्मा, पूर्व सङ्गय प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान सङ्गय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कार्यक्रम का आरम्भ प०पू० महाराज प्रशमरति विजय जी के मङ्गलाचरण से हुआ। विद्यापीठ की गतिविधियों पर प्रकाश विद्यापीठ के संयुक्त निदेशक (स्थापन) डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने डाला। संस्थान के निदेशक (शोध) प्रो० सुदर्शन लाल

९८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

जैन ने अतिथियों का परिचय एवं विषय पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन विद्यापीठ के शोध अध्येता डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव और धन्यवाद ज्ञापन एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० अशोक कुमार सिंह ने किया।

५. विद्यापीठ निदेशक द्वारा फिरोजाबाद सङ्गोष्ठी में पत्र-वाचन एवं अध्यक्षता

दिनाङ्क २४ सितम्बर २०११ को छदामीलाल जैन मन्दिर, फिरोजाबाद के सभागार में पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने प०पू० उपाध्याय मुनि श्री निर्भय सागर जी के सान्निध्य में '२१वीं शताब्दी और श्रमणचर्या : एक मौलिक चिन्तन' पर विशाल जनसमुदाय तथा देश के विभिन्न भागों से समागत शीर्षस्थ विद्वानों की उपस्थिति में पत्र पढ़ा। विद्वानों के प्रश्नों का निदेशक महोदय ने सयुक्तिक समाधान किया। इस आलेख में निदेशक जी ने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की श्रमणचर्या को लेते हुए आधुनिक समय में क्या करना चाहिए जिससे श्रमणचर्या में व्याप्त शिथिलाचार को रोका जा सके, सुझाव दिए। उन्होंने अपने वक्तव्य में आगम-परम्परा को न छोड़ते हुए समयानुकूल बाह्य क्रियाओं में कैसे परिवर्तन किया जा सकता है तथा श्रावकों का इसमें क्या कर्तव्य है? इस पर जोर देते हुए कहा कि श्रमणचर्या में श्रावकों का भी अपराध है क्योंकि वे साधुओं को अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्रदान करते हैं तथा सांसारिक प्रपञ्चों में घसीटते हैं। अपरिशुद्ध भोजनादि की व्यवस्था करके उनके शिथिलाचार को बढ़ाते हैं। श्रावकों को भी अपनी चर्या में बदलाव लाना होगा और संघटित होकर शिथिलाचारी साधुओं का बहिष्कार करना होगा क्योंकि वे साधु 'आत्म-कल्याणार्थ' बने हैं। बाह्य-क्रियाओं में ऐसी पारदर्शिता हो जिससे उनके वीतराग स्वभाव, समताभाव, अहिंसक-व्यवहार, अपरिग्रह-वृत्ति आदि गुणों का समावेश हो। इसके अतिरिक्त निदेशक महोदय ने रात्रिकालीन सङ्गोष्ठी के पञ्चम सत्र में अध्यक्षता भी की।

६. पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला के छात्रों का पार्श्वनाथ विद्यापीठ आगमन

दिनाङ्क २८ सितम्बर २०११, दिन बुधवार को डॉ० प्रद्युम्न शाह सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, गुरु गोविन्द सिंह डिपार्टमेण्ट ऑफ रिलिजियस स्टडीज, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, के नेतृत्व में जैन तीर्थी एवं संस्थानों के भ्रमण पर निकले १२ छात्र-छात्राएँ पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में पहुँचे। संस्थान के

निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने आगंतुकों का स्वागत कर संस्था की गतिविधियों से उन्हें अवगत कराया। छात्रों के समूह के साथ एक परिचर्चा भी हुई।

७. क्रिस्टोफर फ्लेमिंग द्वारा संस्कृत एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार का अध्ययन
दिनाङ्क २४ अगस्त २०११ को अमेरिका से पधारे समागत फुलब्राइट स्कॉलर क्रिस्टोफर फ्लेमिंग को डॉ० अशोक कुमार सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, द्वारा संस्कृत तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार का अध्यापन आंग्लाभाषा के माध्यम से कराया जा रहा है। यह अध्यापन कार्य दिसम्बर २०११ तक चलेगा। अध्ययन के पश्चात् फ्लेमिंग पूना के लिए प्रस्थान करेंगे। संस्थान के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन द्वारा श्वेताम्बर एवं दिगम्बर पूजादि विविध धार्मिक क्रियाओं की सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विधि बतलायी जा रही है जिसे वह सीख रहे हैं तथा अन्य आवश्यक शंकाओं का समाधान किया जा रहा है।

८. प्राकृत एवं अपभ्रंश पत्राचार पाठ्यक्रम के अध्यापन एवं परीक्षा तिथि की घोषणा

अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर, द्वारा संचालित प्राकृत तथा अपभ्रंश पाठ्यक्रम की परीक्षा क्रमशः १९ से २० दिसम्बर २०११ तथा २१ से २२ दिसम्बर २०११ को सम्पन्न होगी। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से जिन्होंने फार्म भरा है उनकी परीक्षाएँ विद्यापीठ में ही होंगी। सबके पास परीक्षा फार्म भेज दिया गया है। जिन्हें परीक्षा फार्म प्राप्त नहीं हुआ है वे विद्यापीठ के निदेशक से सम्पर्क करें। फार्म भेजने की अन्तिम तिथि ३१ अक्टूबर २०११ है। परीक्षा की तैयारी हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ५ नवम्बर २०११ से ११ नवम्बर २०११ तक अपभ्रंश की कक्षाएँ तथा १२ नवम्बर २०११ से १८ नवम्बर २०११ तक प्राकृत की कक्षाएँ दोपहर १ बजे से चलेंगी। परीक्षार्थी संस्थान के निदेशक से सम्पर्क करके आवश्यक कार्यवाही पूरी करें।

9. U.S.A. Academic Tour of PV President and ISJS India

Chairman Dr. Shugan C. Jain (1st to 17th Sept. 2011)

Dr. Shugan Jain, ISJS India Chairman and President of PV, visited USA, Sept. 1st to 17th 2011, to participate in Paryushan Festival at Jain Centre of Greater Boston and promote Jain studies at US Universities.

१०० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

Inauguration of the First ISJS Centre of Jain Studies at Claremont Lincoln University California

The first ISJS Centre of Jain Studies was inaugurated at Claremont Lincoln University on Sept 6th 2011. The program started with a formal welcome lunch hosted by Prof. to ISJS team consisting of Dr. Sulekh Jain, Dr. Shugan Jain, Mrs. Pramoda Behn and Shree Dilip Shah and attended by Prof. Dan Smith (VCU), President of CLU and Ms Brianne Donaldson, Chairperson Jain Centre exploratory committee of CLU. The formal inauguration started with a welcome breakfast at 8AM on Sept 6th, followed by the inaugural function attended by hundreds of Jains from Los Angeles area, faculty, ISSJS alumni on CLU, Chairman and President of CLU and a large pool of Media representatives. On that occasion, ISJS also presented over 100 Jain books for CLU library with promise of more to follow. CLU also expressed their sincere thanks for the first non-Abrahamic Religion Centre to be opened at CLU.

Lecture on 'Peace, Harmony and Development through AAA Doctrine of Jainism' at South Asia Institute of Harvard University on Sept 8th 4PM

Prof. Parimal Patil, head of the SAI organized a lecture on the above subject by Dr. Shugan Jain. The lecture dealt with the application of the principles of Ahimsā, Anekānta and Aparigraha (AAA) of Jains to achieve peace, social harmony and all round sustainable development and how historically Jain Spiritual leaders and luminaries applied these principles to achieve these objectives.

Visiting Yale University Dept of Religious Studies, New Haven Connecticut

ISJS team consisting of Dr. Shugan Jain, Dr Khasgiwala and Shree Kulbhusan Jain visited Yale University on Sept 12th to enhance cooperation between ISJS and the prestigious Yale University. The ISJS delegation met Prof. Phyllis Granoff (Head, Dept of Religious

studies and a renowned Jain Scholar), Ms Ellen Gogh and Ms Lynna Dhanani both ISSJS alumni and now completing their Ph.D. studies at Yale in Jainism and some Yale students interested in Jain studies. ISSJS extended a warm invitation to Prof Granoff to ISSJS 2012 as expert faculty and some students as participants as well.

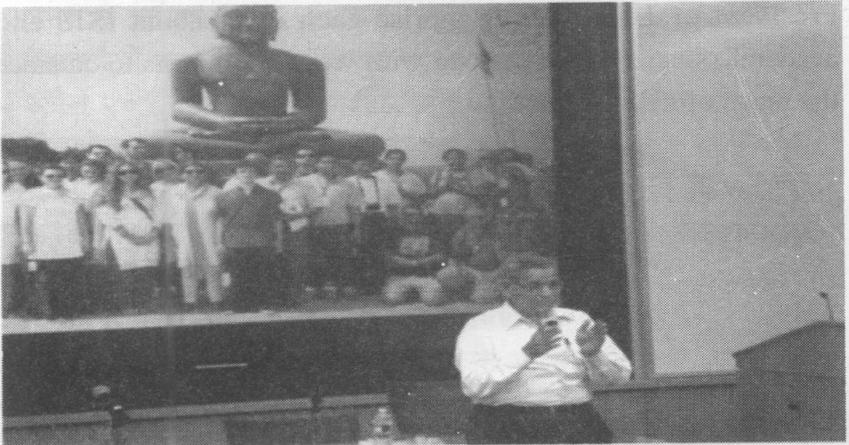
Lectures at Virginia Commonwealth University (VCU) Richmond Virginia (Sept 13th and 14th)

Dr. Shugan Jain delivered two lectures on 'Introduction to Jainism' and 'Religion and Non violence based ethics of Jainism' to students of VCU. The lectures were attended by over two hundred students from VCU and several Jain Community members from Richmond also. Both the lectures were followed by extensive discussions with the students as well.

The lectures were also taken as an opportunity to introduce ISSJS 2012 programs. These lectures were organized by Prof. Dan Smith of VCU who is an alumnus of ISSJS 2010.

Daśalakṣaṇa Pūjās and lectures at Jain Centre of Greater Boston

During the stay at Boston, ten days program consisted of guiding the host Jain community as well as participate in the special poojas of Daśalakṣaṇa. In the evening there were delivered a series of



१०२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

lectures. These lectures, consisted of two parts, namely explain the Spiritual Virtue identified /associated on that particular day (e.g. Supreme Forgiveness, humility, straightforwardness, cleanliness, truth, self restraint, austerities, giving up, solitariness and celibacy) and the texts **Aṣṭapāhuḍa** by Acārya Kund Kund. Overall all and one expressed joy and satisfaction with the entire program. ISJS and Shugan Jain thanked the management of Jain Centre of Greater Boston, particularly their president Smt. Arti Shah, Dr. Chandra Khasgiwal, Mr. Kul Bhushan Jain (along with his wife, children and mother particularly for their excellent hospitality at their home) and Mr. Rasik Vagadia for making the visit happened and provide extraordinary hospitality throughout.

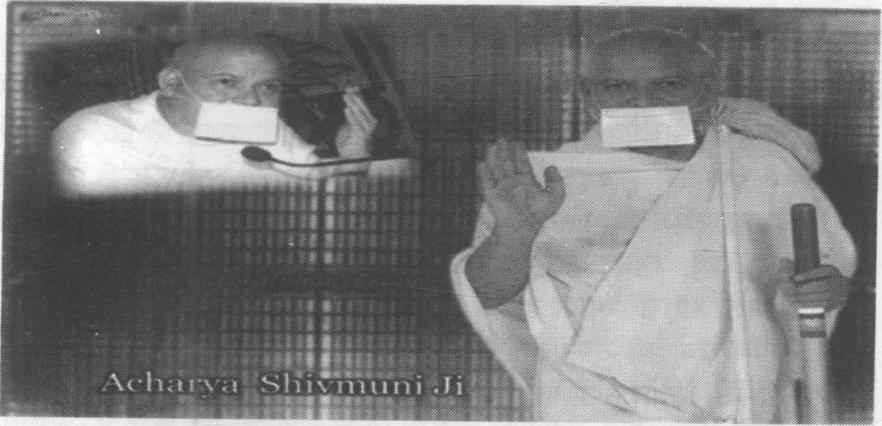
Other important meetings

On Sept 15th important meetings were held with Dr. Sushil Jain, President JAINA and Shree Narendra Jain Chairman, IDJO, USA to exchange notes about the working of ISJS and the present scenario of Jain studies and JAINA in USA. ISJS thanked Shree Akinchan Jain and his wife Namrata Jain to make these meetings and stay at Washington extremely enjoyable. On Sept 16th, meetings were held in Philadelphia with Prof. Gary. Francione, an expert speaker /faculty resource of ISJS and member of ISJS, USA AC and Shree Dilip Shah, a senior functionary of ISJS USA and ex-President of JAI, USA to apprise each other about ISJS and academic studies in USA along with ways and means to enhance the reach of ISJS.

जैन जगत्

१. युग पुरुष शिवाचार्य श्री जी का भव्य चातुर्मास प्रवेश

आत्मज्ञानी, सद्गुरु श्रमण संघीय आचार्य श्री शिवमुनि जी म०सा० आदि ठाणा ७ का भव्य चातुर्मास प्रवेश ७ जुलाई २०११ को डेरावल नगर दिल्ली में सम्पन्न हुआ।



Acharya Shivmuni Ji

आचार्य भगवन् ने अपने संदेश में कहा कि आज का यह पावन दिवस आप सबके लिए मङ्गलकारी हो। पूरे देशभर में वीतरागता का वातावरण बने, सभी अपने लक्ष्य सिद्धालय के लिए पुरुषार्थ करें। भगवान् महावीर से लेकर वर्तमानकालीन सभी साधु-साध्वीवृन्द चातुर्मास में चार माह एक स्थान पर रहकर आराधना में रत रहते हैं। इस काल में एक स्थान पर रहकर त्रिगुप्ति की विशेष आराधना की जाती है। मुमुक्षु आत्मा श्री धर्मपाल जैन को दीक्षा प्रदान करते हुए उन्होंने दीक्षा के महत्त्व को बतलाया।

२. वैशाली में जगदीश चन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला सम्पन्न

१५ अप्रैल २०११ को प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली में वैशाली महोत्सव एवं महावीर जयन्ती के अवसर पर जगदीश चन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला २०११ का आयोजन संस्थान के सभागार में किया गया। व्याख्यानमाला का विषय था 'जनमानस में भगवान् महावीर का प्रभाव'। व्याख्यानमाला का विषय समसामयिक एवं महत्त्वपूर्ण था।

३. दिगम्बर जैन तीर्थ निर्देशिका का लोकार्पण

परमपूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज के पावन सानिध्य में १५ जुलाई २०११ को समवशरण दिगम्बर जैन मंदिर कञ्चनबाग, इन्दौर (म०प्र०) के परिसर में बने विशाल सभा-मण्डप में दिगम्बर जैन तीर्थ निर्देशिका के नये संस्करण का लोकार्पण समारोह सम्पन्न हुआ।

१०४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

निर्देशिका के संयोजक एवं सम्पादक श्री हंसमुख गाँधी ने बताया कि इस तीर्थ-नर्देशिका की ३०,००० प्रतियाँ अब तक विभिन्न संस्करणों में प्रकाशित की जा चुकी हैं। प्रस्तुत नवीन संस्करण में २२५ तीर्थों की अद्यतन जानकारी देने के साथ ही देश के ४४ प्रमुख नगरों एवं पर्यटन स्थलों में स्थित धर्मशालाओं एवं अतिथि निवासों की जानकारी संकलित की गई है जिससे वहाँ समीपवर्ती तीर्थों की यात्रा की जा सके।

४. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी स्मृति ग्रन्थ का राष्ट्रपति द्वारा लोकार्पण

पांचाल शोध संस्थान के तत्त्वावधान में १५ मई २०११ को नई दिल्ली में 'डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी दिग्दर्शन ग्रन्थ समिति' के द्वारा प्रकाशित ब्रिटेन में पूर्व भारतीय उच्चायुक्त, पद्मभूषण डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी स्मृति ग्रन्थ 'दृष्टि में सृष्टि' का महामहिम राष्ट्रपति प्रतिभा देवी सिंह पाटिल द्वारा लोकार्पण हुआ एवं इसकी प्रथम प्रति उनको समारोहपूर्वक भेंट की गई। १६ मई २०११ को देश के गौरवशाली राष्ट्रपति भवन के भव्य 'येलो ड्राइंग रूम' में देश के वरिष्ठ एवं गणमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में एक गरिमामय समारोह के मध्य यह भव्य एवं गरिमामयी आयोजन सम्पन्न हुआ। स्मृति-ग्रन्थ शोधपूर्ण सामग्री, ऐतिहासिक चित्रों आदि से सुसज्जित है। अन्त में एक टिप्पणी है— डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के जीवन व कार्यों को किसी ग्रन्थ में समेट पाना सागर को अंजुरी से उलीचने जैसा है। वस्तुतः यह अन्त नहीं, एक आरम्भ है.....।

५. ज्ञानोदय पुरस्कार की घोषणा

दिनाङ्क २८ सितम्बर २०११, दिन बुधवार को ज्ञानोदय पुरस्कार निर्णायक मण्डल द्वारा प्रो० जगदीश चन्द्र उपाध्याय, इन्दौर (म०प्र०) को जैन इतिहास के क्षेत्र में शोध, मार्गदर्शन एवं लेखन हेतु तथा श्री शान्तिलाल जागड़ा, उदयपुर को ऋषभदेव केशरियाजी मन्दिर एवं इसकी परम्परा के लिए ज्ञानोदय पुरस्कार की घोषणा की गई। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की तरफ से विजेताओं को बधाई।

साहित्य-सत्कार

१. मणिभद्रमहाकाव्यम्

कवि- मुनि प्रशमरतिविजयजी, प्रकाशक- प्रवचन प्रकाशन, ४८८ रविवार पेठ, पूना-२, मूल्य- रु०१७५/-, पृ० १८६।

मणिभद्रमहाकाव्य संस्कृत भाषा में लिखा गया सर्वप्रथम महाकाव्य है। मणिभद्रजी की कथा पर श्री नन्दलाल देवलुक ने अच्छा सङ्कलन किया है। उसमें से एक परम्परा को आधार बनाकर मुनि प्रशमरतिविजय जी ने यह काव्य नौ सर्गों में लिखा है। मणिभद्र नामक यक्ष पूर्व भव में माणिकचन्द नामक एक मूर्तिपूजक था जो पद्मनाभ नामक यति के प्रभाव से मूर्तिपूजा-विरोधी हो गया था। कालान्तर में श्री आनन्दविमल सूरि जी के प्रभाव से पुनः जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हो जाता है और प्रायश्चित्त हेतु शत्रुञ्जय की यात्रा हेतु पैदल चल पड़ता है। रास्ते में लुटेरे उसे मार देते हैं परन्तु धर्मयात्रा के पुण्य प्रभाव से मणिभद्र नामक यक्ष (व्यन्तरदेव) बन जाता है। इधर नाराज होकर पद्मनाभ नामक यति श्री आनन्दविमल सूरि पर भैरव के माध्यम से उपसर्ग करना प्रारम्भ कर देता है।

एक दिन आनन्दविमल सूरि का साक्षात्कार मणिभद्र से होता है। मणिभद्र यक्ष श्री आनन्दविमल सूरि जी के साधुओं पर समागत उपसर्ग को दूर करता है और उपसर्गकर्ता भैरव को पराजित करता है। इस विजय के फलस्वरूप मणिभद्र यक्ष की तपागच्छ के अधिष्ठाता रूप में स्थापना हो जाती है और उसे बहुमान् दिया जाता है। इसीलिए तपागच्छ में जो साधु होते हैं उनके नाम के साथ 'विजय' शब्द जोड़ा जाने लगा।

इस काव्य में धर्म-प्रभावना को महत्त्व दिया गया है। वीर, शान्त, रौद्र, करुण और भयानक रसों का इसमें समावेश है। यमक और अनुप्रास अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग है। प्रकृति-चित्रण और ऋतु-वर्णनादि महाकाव्योचित है। सहायक कथा प्रसङ्गों का भी चित्रण है। भाषा प्रौढ़ है। मणिभद्र के सम्बन्ध में जानने के लिए यह काव्य पठनीय है।

२. वरंगचरित (वराङ्गचरितम्)

मूल लेखक- पं० तेजपाल, सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद- डॉ० सुमत कुमार जैन, प्राकृत अध्ययन शोध केन्द्र, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जयपुर, प्रकाशक- श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई-५६, मूल्य- रु० १२०, पृ० २३८। अप्रकाशित दुर्लभ पाण्डुलिपि का यह प्रथम प्रकाशन है। वरंगचरित के मूल नायक वराङ्गकुमार का जन्म जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समय हुआ था। सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी में जटासेन नन्दि ने उनके व्यक्तित्व पर संस्कृत में महाकाव्य लिखा। अपभ्रंश भाषा के कवि तेजपाल की यह अपूर्व कृति है। धन की प्रतिष्ठा करने वाला यह उत्तम चरित काव्य है। सामाजिक मूल्यों की रक्षा कैसे करें इसकी

१०६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

प्रेरणा इस काव्य से मिलती है। चौरासी पेज की विस्तृत प्रस्तावना है जिसमें अपभ्रंश भाषा और साहित्य की परम्परा का दिग्दर्शन किया गया है। अन्त में दो परिशिष्ट हैं और सन्दर्भ ग्रन्थ सूची भी दी गई है। ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। काव्य चार सन्धियों में विभक्त है।

३. पाइअ-गज्ज-पज्ज-संगहो

सम्पादक- डॉ० जिनेन्द्र जैन, प्रकाशक- जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान, श्री पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश, मूल्य- रु० १२०।

इस सङ्कलन में प्राकृत की कुछ चुनी हुई कथाओं का सङ्कलन किया गया है। आठ कथाएँ गद्य में हैं और तीन पद्य में। इनके अतिरिक्त पद्य में दो सङ्कलन प्राकृत के महत्त्व और सुभाषित से सम्बन्धित हैं। जैनधर्म से सम्बन्धित ये कथाएँ रोचक, शिक्षाप्रद और महत्त्वपूर्ण हैं। सम्पादक डॉ० जिनेन्द्र जैन ने १५ पृष्ठ की भूमिका में प्राकृत भाषा, उसके स्वरूप एवं विकास पर विचार किया है जो महत्त्वपूर्ण है। कथाएँ जीवनोपयोगी हैं जो संयम, दान, तप, विवेक आदि से सम्बन्धित हैं। जैसे; लोभ का कहीं अन्त नहीं, माङ्गलिक पुरुष की कथा, विदुषी पुत्रवधु की कथा, मधुबिन्दु दृष्टान्त, अगरदत्त की कथा, शिल्पीपुत्र की कथा इत्यादि। इन कथाओं के माध्यम से प्राकृत भाषा सीखने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है। ग्रन्थ में हिन्दी अनुवाद, शब्दार्थ और अभ्यास दिये गए हैं।

४. अक्खाणयमणिकोसं (मूल एवं हिन्दी अनुवाद)

लेखक- नेमिचन्द्रसूरि, सम्पादक- डॉ० जिनेन्द्र जैन, प्रकाशक- जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान, श्री पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश, मूल्य- रु० ७५। श्री नेमिचन्द्रसूरि द्वारा लगभग बारहवीं शताब्दी में यह ग्रन्थ लिखा गया। इसमें ५२ गाथाओं के माध्यम से जैनधर्म-दर्शन के विविध विषयों का पालन करने के लिए सोदाहरण कथाओं का निर्देश किया गया है। इसमें कथाओं का केवल नाममात्र है, पूरी कथा नहीं है। उन कथाओं का विस्तार उनके शिष्य आन्तदेवसूरि ने १४००० श्लोक प्राकृत भाषा में पद्यात्मक व्याख्या ग्रन्थ में किया है जिसका नाम है आख्यानमणिकोशवृत्ति। अनुवादक ने अपनी ३४ पृष्ठ की प्रस्तावना में जैन-साहित्य, प्राकृत-कथा, कथा-साहित्य, गन्थ-ग्रन्थाकार आदि से सम्बन्धित विस्तृत विचार किया है। अन्त में गाथानुक्रमणिका और कथासूत्र अनुक्रमणिका दी गई हैं। कथासूत्र-अनुक्रमणिका में यह बतलाया गया है कि किस कथा से सम्बन्धित कितनी गाथाएँ मिलती हैं। कथासूत्र अनुक्रमणिका से यह जाना जा सकता है कि किस कथा का कितनी गाथाओं से वृत्ति में विस्तार किया गया है।

साभार प्राप्ति

प्रवचन प्रकाशन, ४८८, रविवार पेठ, पूना- २ से-

पुस्तक	लेखक/ सम्पादक	मूल्य
१. श्राद्धविधिकौमुदी	मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी	रु०९०
२. सर्वदर्शन प्रवेशक	मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी	रु०१००
३. अष्टसहस्रीतात्पर्य- विवरणम्	मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी	रु०२००
४. योगदृष्टिसंग्रह	मुनिश्री प्रशमरतिविजयजी	रु०७

सेठ भेरूलालजी कन्हैयालालजी कोठारी रिलि० ट्रस्ट, चन्दनबाला वालकेश्वर,
मुम्बई से-

पुस्तक	लेखक/ सम्पादक	मूल्य
१. नयामृत	मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी	रु०७०
२. पातञ्जलयोगसूत्राणि	मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी	रु०८०
३. श्रीहरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन-समुच्चयः (सटीकः)	मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी	रु०६०

इनके अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित पुस्तकें भी साभार प्राप्त हुईं-

१. श्री हेमचन्द्रसूरिकृत काव्यानुशासनम् सटीकम्, प्रकाशक- श्री झालावाड जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ, सुरेन्द्रनगर (गुजरात), मूल्य रु० ८०
२. तर्कसंग्रह फक्किका, लेखक- मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी, प्रकाशक- श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ आराधक ट्रस्ट, सुखराज रायचन्द्र आराधना भवन, साबरमती, अहमदाबाद, मूल्य रु० ३५
३. महावीर आपकी और आज की हर समस्या का समाधान, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ, प्रकाशक- श्री जितयशा फाउण्डेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम०आई० रोड, जयपुर (राज०), मूल्य रु० ५०
४. श्रीमद्-वाग्भट्टविरचितं काव्यानुशासनम्, प्रकाशक- श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ महाराज जैन श्वे० मू० संघ, पारसनाथ लेन, नासिक, मूल्य रु० ८०
५. अप्रगट प्राचीन गुर्जर साहित्य संचय, सम्पा०- साध्वी वीरारसाश्रीजी, डॉ० कविन शाह, प्रकाशक- आचार्य ओंकारसूरि आराधना भवन, गोपीपुरा, सूरत, मूल्य रु० १५०

१०८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

६. श्रीप्रद्युम्नसूरिकृत समरादिव्यसंक्षेप, सम्पा०- हर्मन जेकोबी, प्रकाशक- श्री झालावाड जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ, सुरेन्द्रनगर (गुजरात), मूल्य रु०९०

७. श्रीलध्वाचार्यरचित त्रिपुराभारतीस्तवः (सटीकः), लेखक- मुनि वैराग्यरतिविजयजी, प्रकाशक- श्री हसमुखलाल चुनीलाल मोदी चैरिटेबल ट्रस्ट, तारदेव रोड, मुंबई, मूल्य रु०६०

८. मंगलवादसंग्रह, सम्पा०- मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी, प्रकाशक- श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर ट्रस्ट, २६७, टिंबर मार्केट, भवानी पेठ, पूना, मूल्य रु०१००

९. श्रीसंवेगरतिः, लेखक- मुनिश्री प्रशमरतिविजयजी, प्रकाशक- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मूल्य रु०२५०

१०. ज्ञान-धारा, सम्पा०- डॉ० नवनीत कुमार जैन, डॉ० सुधाकर कुमार मिश्रा, प्रकाशक- श्रुत संवर्द्धन संस्थान, प्रथम तल, २४७, दिल्ली रोड, मेरठ (उ०प्र०) मूल्य रु०१६००

११. श्रीमदभयदेवविरचितं जयन्तविजयमहाकाव्यम्, प्रकाशक- भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य रु० ३००

१२. प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (नीति पथ), लेखक- मुनि प्रणम्यसागर, प्रकाशक- धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, खुरई रोड, सागर (म०प्र०) मूल्य रु०२०

१३. श्री जैनकथा सूची (भाग १ से ३), सम्पा०- श्री श्रुतसमुद्धारकपरम पूज्य श्री विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर महाराज, प्रकाशक- श्री हर्षपुष्पामृत जैनग्रन्थमाला, शान्तिपुरी सौराष्ट्र, समग्र मूल्य रु०१५००

१४. Jainism In Panjab, Dr. Pradyumna Shah Singh, Publication Bureau, Punjabi University, Patiala, Price 250

१५. कारिकावली-सिद्धान्तमुक्तावली, लेखक- श्री विश्वनाथन्यायपञ्चानन भट्टाचार्येण, प्रकाशक- प्रवचन प्रकाशन, पूना, मूल्य रु०२०

विद्यापीठ के आगामी प्रकाशन

१. जैनकुमारसम्भव

अनुवादिका- डॉ० (श्रीमती) नीलमरानी श्रीवास्तव

जैनों ने विशाल साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने न केवल दार्शनिक और धार्मिक साहित्य लिखा है अपितु समाजोपयोगी विविध विषयों पर भी विपुल साहित्य लिखा है। संस्कृत काव्य साहित्य में जैनों का बड़ा योगदान रहा है। विक्रम की १५वीं शताब्दी के अञ्चलगच्छीय श्वेताम्बर जैन मुनि श्री जयशेखर सूरि ने 'जैन कुमारसम्भव' लिख कर उस कड़ी में एक नग और जड़ दिया है। महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव को पढ़ने वालों को जैन कुमार सम्भव अवश्य पढ़ना चाहिये।

डॉ. (श्रीमती) नीलम रानी श्रीवास्तव ने यह हिन्दी अनुवाद आज से कई वर्ष पूर्व कर लिया था परन्तु इसके प्रकाशन में कतिपय कारणों से विलम्ब हुआ। इसके पूर्व इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके थे—

१. ई.सन् १९०० में श्रावक श्री भीमसिंह माणेक मुंबई से पं. श्रावक हीरालाल वि. हंसराज कृत गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ।
२. ई. सन् १९४६ में हीराचन्द कस्तूरचन्द झवेरी तथा मोतीचन्द मगनभाई चोकशी सूरत से श्री धर्मशेखर सूरि कृत संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित हुआ।
३. ई. सन् २००३ में डॉ. रमेशचन्द जैन, वर्धमान कालेज, बिजनौर के हिन्दी अनुवाद के साथ प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर तथा श्री आर्य जय कल्याण केन्द्र ट्रस्ट, मुम्बई ने संयुक्त रूप से प्रकाशित किया।

लेखिका के समक्ष डॉ. रमेशचन्द जैन का संस्करण नहीं था अतः उन्होंने इस ग्रन्थ को अपने गुरुवर प्रो. जगदम्बा प्रसाद सिन्हा, निवर्तमान अध्यक्ष, संस्कृत तथा प्राकृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के निर्देशन में तैयार किया जो कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह केवल हिन्दी अनुवाद मात्र नहीं है अपितु जैन संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास का परिचायक भी है। विविध परिशिष्टों के साथ इस संस्करण में ग्रन्थ की विस्तृत समीक्षा भी है। लेखिका का प्रयास सराहनीय है। हम इसकी संस्कृत टीका भी प्रकाशित करना चाहते थे किन्तु अपरिहार्य कारणों से अभी नहीं कर पा रहे हैं। इस कमी को हम अगले संस्करण में पूरा करेंगे।

२. जैन एवं वैदिक परम्परा में द्रौपदी : एक तुलनात्मक अध्ययन

लेखिका- डॉ०(श्रीमती) शीला सिंह

'जैन एवं वैदिक परम्परा में द्रौपदी : एक तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक कृति डॉ०(श्रीमती) शीला सिंह का उपर्युक्त विषय पर लिखा गया पी-एच०डी०

११० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ३ / जुलाई-सितम्बर - २०११

उपाधि (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) हेतु शोध-प्रबन्ध है। डॉ० शीला सिंह पार्श्वनाथ विद्यापीठ की न्यूकेम शोधछात्रा रही हैं और उन्होंने डॉ० अशोक कुमार सिंह के निर्देशन में शोध किया था।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख परम्पराओं वैदिक और श्रमण में परस्पर प्रभूत विनिमय हुआ है। आज आवश्यकता विविध परम्पराओं में अन्तर्निहित एकता के तत्त्वों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की है। द्रौपदी का चरित्र जैन एवं वैदिक परम्परा में सामान्य रूप से लोकप्रिय है। परन्तु अपनी-अपनी पृथक् पृष्ठभूमियों के कारण दोनों परम्पराओं में द्रौपदी का चित्रण-परिवेश पृथक्-पृथक् है। जैनाचार्यों की प्रवृत्ति जैन सिद्धान्तों को दृष्टान्तों के माध्यम से सहज बनाकर प्रस्तुत करने की रही है। इस कारण हिंसा, असंयम और निदान के भयावह परिणामों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने के लिए द्रौपदी कथा को आधार बनाया गया।

इस कृति में वैदिक एवं जैन दोनों ही परम्पराओं में उपलब्ध प्रचुर साहित्य के सम्यक् अध्ययन के आधार पर द्रौपदी कथा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के माध्यम से द्रौपदी के कथानक पर व्यापक प्रकाश पड़ेगा।

३. कर्मग्रन्थ : शतक, भाग ५ (मूल, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या)

अनुवादक एवं व्याख्याता- पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैनदर्शन में कर्म को एक विशेष प्रकार का जड़ पदार्थ (कार्मण वर्गणा) माना गया है जो जीव की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ घुल-मिल जाता है। जीव की क्रिया के फलस्वरूप आकृष्ट होकर वह जीव से बँधता है, अतः भौतिक पदार्थ होते हुए भी अरूपी आत्मा के साथ एक विशेष प्रकार के बन्ध को प्राप्त होता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं वहाँ जैनदर्शन का मन्तव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा में आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा से बँध जाता है। कालान्तर में यही द्रव्य आत्मा को शुभ-अशुभ फल देता है।

पूर्व में यह ग्रन्थ श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षा समिति, बड़ौत, मेरठ, द्वारा वीरनिर्वाण सम्वत् २४६८ (सन् १९४१) में प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ की महत्ता एवं उपादेयता को देखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ इसके सभी खण्डों का अति आवश्यक संशोधन कर पुनः प्रकाशन कर रहा है।

OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

1. Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I-Vol. VII,	Rs. 1430.00
2. Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I-Vol. III Dr. Shitikanth Mishra	Rs. 1270.00
3. Jaina Pratimā Vijñāna Prof. M.N.P. Tiwari	Rs. 300.00
4. Jaina Dharma Darśana Dr. Mohanlal Mehta	Rs. 200.00
5. Ṛṣibhāṣita Dr. Sagarmal Jain	Rs. 60.00
6. Sthānakavāsī Jaina Paramparā Kā Itihāsa Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar	Rs. 500.00
7. Studies in Jaina Philosophy Dr. Nathmal Tatia	Rs. 200.00
8. Theaory of Reality in Jaina Philosophy Dr. J. C. Sikdar	Rs. 300.00
9. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy H.V. Glasenapp	Rs. 150.00
10. Jainism: The Oldest Living Religion Dr. Jyoti Prasad Jain	Rs. 40.00
11. Scientific Contents in Prakrit Canons Dr. N. L. Jain	Rs. 400.00
12. Pearls of Jaina Wisdom Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P Pandey	Rs. 120.00
13. Studies in Jaina Art Dr. U.P. Shah	Rs. 300.00
14. Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I Editor : Dr. S. P. Pandey	Rs. 500. \$ 40-00
15. Jainism in a Global Perspective Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	Rs. 400.00. \$ 19.00
16. Multi-dimensional Application of Anekāntavāda Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	Rs. 500.00, \$ 20.00
17. Advanced Glossary of Jaina Terms Dr. N. L. Jain	Rs. 300.00
18. Cāra Tirthaṅkara Pt. Sukhlal Sanghvi	Rs. 60.00
19. Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśīlana (Gujrati) Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi	Rs. 300.00
20. Jains Today in the World Pierre Paul Amiel	Rs. 500.00
21. Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion) Dr. N. L. Jain	Rs. 300.00
22. Jaina Karmagrantha Part -I-III (Pt. Sukhlal Sanghvi)	Rs. 400.00
23. Encyclopaedia of Jaina Studies Vol. I (Art & Architecture)	Rs. 4000.00, \$ 100.00